प्रकाशक

ओझाबन्धु आश्रम

प्रयाग

मुद्रक

श्यामसुंदर श्रीवास्तव

इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस

प्रयाग

राय बजरंग बहादुर सिंह, भद्री-नरेश

समर्पण

श्रीमान राय बजरंगबहादुरसिंह, भद्री नरेश

की सेवा में

प्रियवर !

मुझसे आपकी मित्रता किस प्रकार इतनी बढ़ गई, और किस अज्ञातशक्ति की प्रेरणा से हम दोनों एक दूसरे के जीवन में आगये इस समस्या को मैं कभी नहीं सुलझा सकता। पर इतना जानता हूँ कि जीवन में आप ऐसे मित्रों के आने का सौभाग्य बहुत कम लोगों को प्राप्त होता है। इस मित्रता के बन्धन को चिर-स्थायी बनाने के लिए उसमें एक दृढ़ गाँठ के रूप में मैं अपनी कविताओं का यह संग्रह आपको समर्पित कर रहा हूँ।

आपका

भगवतीचरण वर्मा

भूमिका

कवि कभी भी अच्छा समालोचक नहीं हो सकता क्योंकि उसके व्यक्तित्व और उसकी विचार-धारा के अविश्लेषणीय ऐक्य में ही उसकी प्रतिभा विकसित होती है, और यह ऐक्य उसे एक स्वतन्त्र तथा प्रभावशाली शक्ति बनाने के साथ ही उसके दृष्टि-कोण को संकुचित बना देता है। अपनी शैली तथा अपनी विचार धारा पर उसे अटल विश्वास रहता है, उसे ही वह सर्व-श्रेष्ठ समझता है और इसीलिए वह उस शैली में लिखता है तथा उस विचार-धारा को व्यक्त करता है। ऐसी अवस्था में मुझसे भी निष्पक्षपातपूर्ण विवेचना की आशा करना व्यर्थ होगा। फिर भी यह भूमिका लिख रहा हूँ और उसका मुख्य कारण यह है कि मैं अपने दृष्टि-कोण से हिन्दी-संसार को परिचित करा देना चाहता हूँ। जिस प्रकार की कविताएँ मैं लिख रहा हूँ उस प्रकार की कविताओं के विपक्षी बहुत अधिक संख्या में इस समय विद्यमान हैं (यद्यपि यह विरोध धीरे धीरे कम होता जाता है) और उन विपक्षियों में अधिकांश अपने गुरुजनों तथा हिन्दी-साहित्य के धुरंधर विद्वानों के होने के कारण उनकी अवहेलना नहीं की

जा सकती। मेरा ऐसा विश्वास है कि यदि उन विपत्तियों को आधुनिक छायावाद की कविता के गुणदोष भली भाँति समझा दिये जायँ तो कोई कारण नहीं दिखलाई देता कि वे इस विरोध की भावना को बनाये ही रक्खें।

हिन्दी संसार के एक नये युग में जन्मलेने का मुझको सौभाग्य प्राप्त हुआ है। नया होने के साथ ही यह युग उच्च भावनाओं तथा उच्च आदर्शों का प्रवर्तक है। विश्व के अन्य देशों के संसर्ग में पूर्ण-रूप से आ जाने के बाद हिन्दू-समाज ने परिवर्तन की आवश्यकता को प्रतीत कर लिया है। हजारों वर्ष की पुरानी संस्कृति तथा विचारधारा जो बिना परिवर्तित हुए परिवर्तन-शील समाज को दूषित बना रही थी, लोप हो रही है और उसके स्थान पर एक नयी संस्कृति तथा विचार-धारा का आविर्भाव हो रहा है। हमें इस स्थान पर लार्ड टेनीसन की ये पंक्तियाँ याद आ रही हैं।

The old order changeth yielding place to new,
And God fulfills himself in many ways,
Lest one good custom should currupt the world.

हिन्दी संसार का यह युग विचित्र है। यह युग न तो वीरता का युग कहा जा सकता है, न भक्ति का और न शृंगार का। पर वास्तव में यदि देखा जाय तो इस युग में सभी बातें मिलेंगी, पर एक अनोखे रूप में; और उनका यह अनूठा रूप उच्चतम भावनाओं से प्रेरित है।

इस युग में वीरता को ढूँढ़ने वाले के लिए अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं। केवल उसे वीरता का आधुनिक रूप

समझ लेना चाहिये। आज की वीरता में झूठा अभिमान नहीं, ममत्व-भाव से प्रेरित होकर दूसरों पर प्रहार करने की यह वीरता नहीं है, यह वीरता आदर्श की ओर झुकी हुई है, इस वीरता में कसक मिली है, इस वीरता में निःसीम त्याग की भावना है। यह वीरता मारने और मर जाने की नहीं है, यह वीरता प्रेम और दया को हृदय में रख कर तथा अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहकर आत्म वलिदान से शत्रु पर विजय पाने की है।

आज की भक्ति भी विचित्र है। आज की भक्ति में केवल अंधविश्वास नहीं है, वाह्याडम्बर नहीं है, गोपी और कृष्ण का रूपक नहीं है तथा गुरु और चेलों से युक्त, अनहद-पूर्ण और आपस में मत मतान्तरों युक्त गाली गलौजवाली कट्टरता नहीं है; आज की भक्ति में विचार-स्वातन्त्र्य है, आराध्य की वास्तविकता तक पहुँचने की उत्कट अभिलाषा है। इस भक्ति में आत्म-विश्वास है और निःसीम तथा अनन्त की छाया है।

वह समय गया जब स्त्री को पुरुष अपनी वासना को तुष्ट करने का साधन-मात्र समझता था, और इसलिए उसकी दृष्टि के आगे स्त्री का वाह्य-सौन्दर्य ही रहता था। इस युग का शृंगार हृदय की कुत्सित भावनाओं को भड़काने वाला नहीं है। मुग्धा और प्रौढ़ा के कामोद्दीपन करनेवाले अश्लील वर्णन आज के साहित्य में नहीं मिलेंगे, स्थान स्थान पर कुच और नितम्ब के दर्शन आज का शृंगार नहीं करा सकेगा। आज के शृंगार में प्रशान्त तथा गम्भीर प्रेम की एक निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है।

दूसरे शब्दों में यह युग मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास

का है। मनुष्य और पशु में भेद केवल मस्तिष्क का है। मनुष्य सोच सकता है, समझ सकता है और उसके साथ ही वह अपनी इच्छा के अनुसार उपकार तथा अपकार कर सकता है। मनुष्य का शरीर भी एक भाग है और शारीरिक विकास तथा सुख की अवहेलना नहीं की जा सकती। पर शारीरिक सुख पर मानसिक विकास को बलिदान कर देना मनुष्यता को त्याग कर पशुता को ग्रहण करना है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि मनुष्य का क्षेत्र मानसिक तथा आत्मिक है, शारीरिक नहीं।

कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इस युग का घोर विरोध किया जा रहा है। मनोवैज्ञानिक अच्छी तरह से जानते हैं कि प्रत्येक युग में भिन्न भिन्न विचारों के व्यक्ति मिलेंगे, और परम्परा की भक्ति मनुष्य में एक प्राकृतिक कमज़ोरी होती है। नये युग और नये विचारों का विरोध करने वालों की संख्या काफ़ी हुआ करती है। पर युग का निर्माण बहुमत से होता है। आज भी चन्दबरदाई के समर्थक, सूरदास के भक्त तथा देव के प्रेमी यथेष्ट संख्या में मिलेंगे, और ऐसे लोगों का वर्तमान हिन्दी कविता का विरोध करना स्वाभाविक ही है। चन्दबरदाई, सूरदास तथा देव का कोई भी समझदार व्यक्ति विरोध नहीं कर सकता, वे लोग उच्च कोटि के कवि थे; वे वास्तव में हिन्दी साहित्य के रत्न हैं। पर उनकी प्रशंसा करने में और केवल उन्हीं को ठीक मानकर दूसरों की निन्दा करने में भेद होता है। आज का बहुमत उन साहित्य के रत्नों को उच्च कोटि का कवि मानते हुए भी वर्तमान हिन्दी कविता की निन्दा नहीं करता, वरन उसका पूर्ण रूप से

समर्थक है। जो थोड़े से व्यक्ति वर्तमान हिन्दी कविता को कोस रहे हैं वे वर्तमान हिन्दी कविता के प्रति अन्याय कर रहे हैं।

इसके ये अर्थ नहीं कि वर्तमान हिन्दी कविता में दोप नहीं हैं, दोप हैं, अधिक हैं और कहीं कहीं वे अक्षम्य हैं। पर इतना याद रखना चाहिये कि वे दोष व्यक्ति-गत हैं। एक वहुत वड़ा दोष जो वर्तमान हिन्दी कविता पर मढ़ा जाता है यह है कि वह अस्पष्ट होती है। इसी दोष के कारण उसके विपक्षियों ने उसे छायावाद का नाम दे दिया है। छायावाद स्वयम् तो वहुत उच्च कोटि की चीज़ है, पर व्यङ्ग से जो उसके अर्थ निकाले जाते हैं वह है अर्थ-हीन व्यर्थ प्रलाप; और धीरे धीरे छायावाद से लोगों का तात्पर्य उस कविता से हो गया है जो नये छन्दों में लिखी गयी हो, भापा जिसको खड़ी वोली हो और भाव जिसमें नवीन प्रकार के व्यक्त किये गये हों। इस छायावाद की कविता पर अस्पष्टता का जो दोप मढ़ा जाता है वह किसी अंश तक ठीक है। छायावाद की कविता अस्पष्ट इस लिए होती है कि एक तो कई कवि अस्पष्ट और कभी कभी अर्थ-हीन लिखते ही हैं, दूसरे पढ़ने वाले उसे समझना भी नहीं चाहते।

यह पहिले ही कहा जा चुका है कि सदियों की मान्य विचार-धारा के विपरीत यह युग चल रहा है। दूसरे देशों की सभ्यता तथा संस्कृति ने भारतवर्ष को यथेष्ट प्रभावित किया है और उन देशों के विचारों की छाप भारतवर्ष की विचारधारा पर पड़ी है। इसलिए जो विचारधारा छायावाद की कविता में चल रही है वह भारतवर्ष की पुरानी विचारधारा से टक्कर नहीं खाती, वह निर्धारित रूढ़ियों के प्रतिकूल है। एक मनोवैज्ञानिक सत्य की

भी अवहेलना नहीं की जा सकती; वह यह कि परम्परा की भक्ति मनुष्य में प्राकृतिक कमजोरी है। यह प्रायः देखा जाता है कि गुरु-जन परिवर्तन-प्रिय नहीं होते। ऐसी स्थिति में गुरुजनों से यह आशा करना कि वे इस परिवर्तित विचारधारा के प्रति सहानुभूति प्रकट करेंगे, व्यर्थ है। पर बात यहीं नहीं रह जाती; वास्तविकता तो यह है कि नयी विचारधारा का उनमें यह विरोध उन्हें नयी विचारधारा को समझने से भी रोकता है। फिर भला छायावाद की कविता किस प्रकार हमारे गुरुजनों के समझ में आ सकती है। उसको समझने के लिए आधुनिक विचारधारा मे पूर्ण रूप से भिज्ञ होना पड़ेगा। इधर छायावाद के कवियों में भी उद्दण्डता प्रधान हो रही है। जितना ही अधिक उनका विरोध किया जा रहा है वे उतने ही उद्दण्ड होते जाते हैं। छायावाद के कवियों की यह उद्दण्डता ठीक ही है क्योंकि वे ठीक मार्ग पर हैं, पर इस उद्दण्डता का प्रभाव उन कवियों पर अच्छा नहीं पड़ता। दूसरों की अवहेलना करना उचित हो सकता है, पर अवहेलना करने के लिए ही अपने दोषों को दूर न करना या अपने में दोष उत्पन्न कर लेना भी अच्छा नहीं।

हिन्दी साहित्य में आज तीन तरह की कविताएँ लिखी जा रही हैं, और फलतः इस समय कवियों के तीन दल अथवा स्कूल बन गये हैं। ये तीन स्कूल इस प्रकार हैं:—

(१) ब्रजभाषा स्कूल।

(२) खड़ीबोली का वह स्कूल जिसमें भाव तथा छन्द पुराने हैं, पर भाषा नयी है।

(३) छायावाद स्कूल।

ब्रजभाषा स्कूल बहुत पुराना है, और इस समय इसका उसकी

तुलना बुझते हुए दीपक की लौ से कर सकते हैं। ब्रजभापा प्रान्तीय भापा है, पर पिछली तीन चार सदियों से ब्रजभापा हिन्दी कविता की भापा हो गयी थी। ब्रजभापा पहिले पहिले हिन्दी कविता की भापा अष्टछाप के समय से हुई थी। यह मानी हुई वात है कि हिन्दी की अन्य प्रान्तीय भापाओं से ब्रजभापा अधिक सुन्दर तथा कोमल है; दूसरे शृंगार तथा भक्ति दोनों ही के नायक कृष्ण के होने के कारण ब्रजभापा के प्रचार में बड़ी सहायता मिली। कृष्ण का प्रान्त ब्रज था और कृष्ण का शृंगार का रूपक भी युग की रुचि के अनुकूल था। उन दो कारणों से चारण काल के अन्त होने के वाद तथा भक्ति-काल की प्रौढ़ता और भक्ति से शृंगार के जन्म होने के समय ब्रजभापा हिन्दी कविता की भापा हो गयी। नये युग के जन्म लेने के साथ ही ब्रजभापा पीछे रह गयी क्योंकि वह अपूर्ण थी। ब्रजभापा काल में हिन्दी साहित्य में गद्य की रचना नहीं हुई, साथ ही ब्रजभापा हिन्दू-संस्कृत से सम्वन्ध होने के कारण मुसलमान शासकों द्वारा दरवारों तथा अदालतों की भापा के रूप में भी नहीं अपनाई गयी। मुसलमान शासकों ने उर्दू को जन्म दिया जिसका व्याकरण तो मेरठ की प्रांतीय भापा का व्याकरण था, पर शब्द जिसमें फ़ारसी, संस्कृत तथा अन्य भापाओं के ले लिये गये थे, और जिसकी लिपि अरवी थी। उर्दू भापा शासकों के प्रभाव से अदालतों तथा दरवारों की भापा हो गयी और उसमें प्रकाण्ड साहित्य का भी निर्माण हुआ। उर्दू साहित्य पूर्णाङ्गी था क्योंकि उसमें पद्य तथा गद्य दोनों ही लिखा गया। नये युग के निर्माण के साथ जव हिन्दी में गद्य की आवश्यकता अनुभव की गयी

और जब नवीन साहित्य के निर्माण की आवश्यकता को लोगों ने प्रतीत किया तो यह प्रश्न उठ पड़ा कि क्या ब्रज भाषा में गद्य साहित्य का निर्माण सम्भव है। उस समय लोगों ने अनुभव किया कि ब्रजभाषा प्रान्तीय भाषा होने के कारण अन्य प्रान्त के जन-समुदाय द्वारा न अपनाई जा सकेगी और उर्दू भाषा अरबी लिपि में लिखी जाने के कारण हिन्दी भाषा नहीं कही जा सकती। पर इतना स्पष्ट था कि सारे भारतवर्ष में अदालतों की भाषा के रूप में प्रचलित होने के कारण उर्दू भाषा ही साहित्य की भाषा हो सकती थी। इसलिए उर्दू भाषा को ही उसके फ़ारसी शब्दों की जगह हिन्दी के अधिक प्रचलित शब्दों को तथा कुछ संस्कृत शब्दों के लेकर देवनागिरी लिपि में लिख कर अपना लिया गया और वही भाषा हिन्दी की नयी भाषा खड़ी बोली के रूप में विकसित हुई।

एक नियम है कि कविता की भाषा वही होगी जो गद्य की भाषा होगी। किसी भी साहित्य में दो भिन्न भिन्न भाषाओं का—एक गद्य की और दूसरी कविता की—साथ साथ चलना असम्भव है। हम सोचते हैं गद्य में, हम बात करते हैं गद्य में और हमारी गद्य की भाषा खड़ी बोली है; फिर भला यह कैसे सम्भव हो सकता है कि ब्रजभाषा पद्य की भाषा बनी ही रहे। व्यवहार की भाषा होने के कारण खड़ीबोली से प्रत्येक व्यक्ति भिज्ञ हो जाता है, पद्य की भाषा के लिए—यदि पद्य की भाषा दूसरी है—दूसरी भाषा का अध्ययन करना पड़ेगा।

छायावाद की कविता के घोर विरोधियों में ब्रजभाषा के कवि बहुत बड़ी संख्या में मिलेंगे, और उनका यह विरोध

स्वाभाविक तथा प्राकृतिक है। वे विश्वास करते हैं कि खड़ी बोली मिठास में व्रजभाषा की टक्कर नहीं ले सकती, और उनका विश्वास ठीक है। पर वे एक बात भूल जाते हैं। वह यह कि प्रत्येक भाषा में रस और माधुर्य हो सकता है और खड़ी बोली अभी पूर्ण-रूप से विकसित नहीं हुई है। यदि खड़ी बोली में देव और बिहारी ढूँढे जाय तो नहीं मिलेंगे, यह ठीक है। पर इतना याद रखना पड़ेगा कि खड़ी बोली में कभी भी देव और बिहारी से कवि न मिलेंगे। वह युग दूसरा था, उस समय की विचारधारा दूसरी थी। और यह युग दूसरा है तथा विचार-धारा भी दूसरी है। साहित्य केवल एक देव तथा एक बिहारी को चाहता है, वह चाहता है करोड़ों तरह के अपने अपने रंग में रँगे हुए प्रतिभावान कवि! जो लोग देव तथा बिहारी बनने का प्रयत्न कर रहे हैं वे अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग कर रहे हैं और साहित्य में जीवित नहीं रहना चाहते। क्योंकि जो व्यक्ति नक़ल करता है वह उससे नीचा ही रहता है जिसकी वह नक़ल करता है और जन-समुदाय केवल प्रतिभावान व्यक्तियों का ही आदर करता है। व्रजभाषा के कवियों की संख्या आज कल काफ़ी बढ़ गयी है, उर्दू शायरों की तरह प्रत्येक गाँव में आठ दस व्रजभाषा के कवि मिलेंगे। पर इन कवियों को शुद्ध व्रजभाषा का ज्ञान तक नहीं है। इनका लिखने का विषय वही कुत्सित शृंगार होता है जिसका अथाह सागर हिन्दी साहित्य में भरा पड़ा है।

व्रजभाषा से मुझे कोई वैमनस्य नहीं, न उसके लिखने वालों से मुझे कोई द्वेष है। मेरा कहना केवल इतना है कि

व्रजभाषा को उठाना असम्भव है तथा व्यर्थ-प्रयास है, क्योंकि वह गद्य की भाषा नहीं है। पर यदि कोई व्रजभाषा लिखता है तो लिखे, अपने हित तथा अहित का ज़िम्मेदार वही है। मेरे विचार से तो नये कवियों को व्रजभाषा को अपनाना अपनी प्रतिभा को नष्ट करना है।

दूसरी श्रेणी के लोग जो छायावाद की कविता का उपहास करते हैं, खड़ी बोली के वे कवि तथा कविता-प्रेमी हैं जो पुरानी परिपाटी के उपासक हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो छायावाद स्कूल की नींव डालने वाले व्यक्ति इन्हीं लोगों में थे। इस श्रेणी के कवियों में अधिकतर हमारे गुरुजन तथा वर्तमान हिन्दी-साहित्य के निर्माता हैं और ऐसी स्थिति में इन लोगों का विरोध हमारे दुर्भाग्य की बात है। इन लोगों के विषय में हमें केवल इतना ही कहना है कि इन लोगों की नवीन युग के प्रति सहानुभूति नहीं हैं। खड़ीबोली के निर्माण के साथ ही इस स्कूल की नींव कायम हुई थी। इन लोगों ने पुरानी परिपाटी की कविता नयी भाषा और कभी कभी नये छन्दों में लिखना आरम्भ किया था, भाषा के परिवर्तन के तो ये लोग कायल थे, पर छन्द-परिवर्तन तथा विचार परिवर्तन के ये लोग कायल न थे। इन्होंने हिन्दी-साहित्य में युगान्तर लाने का काम, विना उस युगान्तर के भावी रूप को देखे हुए, आरम्भ कर दिया था; और उसको नये युग के कवि पूरा कर रहे हैं। पर ये गुरुजन उतने अधिक परिवर्तन के लिए तैयार न थे, और इस लिए उनका विरोध स्वाभाविक ही है। वे अनुभव कर रहे हैं कि विष के बीज (इस परिवर्तन को वे विष ही समझते

हैं) बोने का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है और इस लिए अपने पाप की गुरुता पर ध्यान देते ही उनके हृदय काँप उठते हैं। इन गुरुजनों की वृद्धावस्था ने इनके दृष्टिकोण को संकुचित बना दिया है। यदि सहानुभूति के साथ ये गुरुजन आधुनिक छायावाद की कविता को पढ़ें, तो उनमें विरोध की यह भावना एक दम मिट जाय। पर दुर्भाग्यवश परिवर्तन-प्रिय न होने के कारण और साथ ही अपनी विद्वत्ता तथा साहित्य में अपने ऊँचे स्थान होने के कारण उन लोगों में छायावाद की कविता की ओर उपेक्षा को भावना प्रवल हो गयी है। यह याद रखना चाहिये कि विद्वान तथा साहित्य-निर्माता और अच्छा कवि तथा अच्छा समालोचक होने में भेद होता है। यह ध्यान में रखना पड़ेगा कि युग का प्रभाव देश के साहित्य पर बहुत अधिक पड़ता है और देश का नव-युवक समुदाय ही देश के साहित्य का निर्माता माना जाता है। जिस तेजी के साथ देश की विचारधारा वदल रही है उसको देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि इस श्रेणी के लोग व्यर्थ में वादविवाद उठा कर उद्धत नवयुवकों के आक्षेपपूर्ण प्रत्युत्तरों से मर्माहत होने का कष्ट उठा रहे हैं। इस श्रेणी में अधिकांश साहित्य के महारथी हैं, उनके प्रति अश्रद्धा प्रकट करना एक बड़े पाप का भागी होना है। मैं इन गुरुजनों से मस्तक नमाकर कहूँगा कि जो बात ठीक है उसे मानने में सङ्कोच न करना चाहिये, और कम से कम यदि वे इस बात को ठीक नहीं मानते तो उन्हें मौन ही रहना चाहिये।

हिन्दी कविता में प्रथम बार भाव-परिवर्तन देश की राजनैतिक हलचल के समय देखा गया है, और इसलिए यह कहा जा

सकता है कि छायावाद कविता की नींव देश में राजनैतिक जागृति के समय में पड़ी है। भारतवर्ष की वीरता में देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता का भाव नया है, और राजनैतिक जागृति के समय यह भाव पाश्चात्य देशों से लिया गया तथा हिन्दी साहित्य में राजनैतिक कविताएँ अन्य पाश्चात्य-साहित्यों की राजनैतिक कविताओं के आधार पर लिखी गयीं। इसके बाद भाव-परिवर्तन का रास्ता साफ़ हो गया और राजनैतिक ही नहीं वरन् अन्य विषयों की कविताओं में भी नये भाव लिये गये। यह ध्यान में रखना पड़ेगा कि इस समय तक हिन्दी में कविताएँ लिखने वालों में अंग्रेज़ी लिखे पढ़े लोग कम मिलते थे, पर राष्ट्रीयता की लहर ने उन हिन्दी भाषा-भाषियों को हिन्दी साहित्य के प्रति अपने कर्तव्य का ध्यान दिला दिया जो अंग्रेज़ी पढ़ कर हिन्दी को गँवारों की भाषा समझने लगे थे। अब साहित्य में ऐसे लोगों ने प्रवेश किया जो अंग्रेज़ी पढ़े थे और जो अंग्रेज़ी साहित्य से यथेष्ट प्रभावित थे। उन लोगों ने पाश्चात्य भावों को अपना कर उनका समावेश हिन्दी साहित्य में किया और यहीं हम आधुनिक छायावाद की कविता के विकास के मूल तत्व को देखते हैं।

यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि छायावाद स्कूल की कविता ही इस युग की कविता है और नवीन होने के कारण इस स्कूल में अनेक त्रुटियाँ हैं। जैसा पहिले ही कहा जा चुका है सब से बड़ी त्रुटि जो छायावाद की कविता में बतलाई जाती है। यह है कि वह अस्पष्ट होती है।

छायावाद-स्कूल की अस्पष्टता का विश्लेषण करने के पहिले हमें नवीन युग की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पड़ेगा। यह

पहिले ही कहा जा चुका है कि यह युग मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास का है, इस मानसिक अंतर्जगत में वस्तु-जगत् का कोई स्थान नहीं। पुरानी हिन्दी कविता अधिकतर वर्णनात्मक है, आधुनिक हिन्दी कविता विचारात्मक है; पुरानी हिन्दी कविता में पुराने ही विचारों को प्रतिवार नये शब्दों में रखने की कोशिश की गयी है—केवल स्पष्ट तथा मान्य विचारों को वार वार दुहराने को ही सर्वोपरि समझा गया है। उस कविता का ध्येय भाव-सौन्दर्य का सृजन नहीं है वरन् शब्द-सौन्दर्य का सृजन है। वही पुरानी तथा निर्धारित उपमाएँ, रूपक तथा अलङ्कार आदि से अन्त तक दिखलाई देंगे। आधुनिक कविता में विचारों तथा भावों पर अधिक ध्यान रक्खा जाता है। छायावाद की कविता का उद्देश्य है भाव-सौन्दर्य का सृजन। छायावाद की कविता का ध्येय वाह्य सौन्दर्य नहीं है, वरन् आन्तरिक सौन्दर्य है।

छायावाद की कविता के अस्पष्ट होने के चार कारण हैं:

१—लोगों में उसके समझने की इच्छा का अभाव

जो विचार-धारा इस समय छायावाद की कविता में चल रही है वह भारतवर्ष के लिए नयी है। भारतवर्ष में अभी तक वाह्य-सौन्दर्य से सम्बद्ध काव्य प्रचलित रहा है; वीरता में 'मार काट' भक्ति में 'विश्वास' तथा शृंगार में 'नखशिख और नायिका भेद' अभी तक लोग देखते आये हैं और सदियों तक रसों में वस्तु-जगत की प्रधानता दी जाने के कारण जनसमुदाय का दृष्टि कोण बहुत अधिक संकुचित हो गया है। जिस समय नयी कविता में बलिदान, प्रेरणा तथा गम्भीर प्रेम का रूप दिखलाई देता है—लोगों के

मुख पर आश्चर्य तथा अविश्वास के भाव अङ्कित हो जाते हैं; उनका विकृत तथा गुलाम मस्तिष्क मानसिक तत्वों के सूक्ष्म रूप को देखने में समर्थ नहीं होता। और परिणाम यह होता है कि वे लोग अस्पष्ट कह के इन कविताओं को फेंक देते हैं।

२—छायावाद की कविता में मानसिक चित्र-पटों की प्रधानता

वहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी नये युग के प्रति पूर्ण सहानुभूति है और वे छायावाद की कविता को समझना भी चाहते हैं; पर धुँधले मानसिक चित्र-पटों की प्रधानता से पूर्ण छायावाद की कविताओं को वे लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं समझ पाते। प्रायः यह देखा जाता है कि मस्तिष्क में एक के बाद एक विचार धुँधले रूप में आकर चले जाते हैं और वे विचार कभी कभी इतने सुन्दर होते हैं कि हृदय पुलक उठता है। पर हम उन मानसिक चित्रपटों को विश्लेषण करने में सफल नहीं होते, वे इतने अस्पष्ट होते हैं। उन धुँधले चित्रपटों को जव कविता का रूप दिया जायगा तो कविता और अस्पष्ट हो जायगी क्योंकि जो बात स्वयम् कवि को स्पष्ट नहीं है वह दूसरों को किस प्रकार स्पष्ट हो सकती है। एक वार मैंने एक सज्जन से उनकी एक कविता का अर्थ पूछा। उन्होंने उत्तर दिया "इसके अर्थ को तो मैं स्वयम् नहीं वतला सकता—इस समय मेरी समझ में इसके अर्थ नहीं आते, पर जिस समय यह कविता लिखी गयी थी—इसमें अर्थ थे। अपने अस्पष्ट तथा धुँधले मानसिक चित्रों को कविता-रूप में स्पष्ट करना मेरे विचार से वहुत वड़ी भूल है क्योंकि अस्पष्टता

मनुष्य को नीचे ही गिरा सकती है, कभी ऊँचे नहीं उठा सकती। इसके ठीक विपरीत बात भी कभी कभी देखी जाती है। कवि के सामने एक सुन्दर भाव आता है। वह उस पर मनन करता है, जितना ही वह उस भाव पर विचार करता है उतना ही वह अपने को उसमें भूलता हुआ चला जाता है, और अन्त में परिणाम यह होता है कि जिस समय वह उस भाव पर कविता लिखने बैठता है उस समय वह उस भाव में इतना डूब जाता है कि उसकी कविता केवल एक अर्थहीन प्रलाप रह जाती है।

कविता के क्षेत्र में भावुकता की एक सीमा होती है। इस सीमा के एक ओर शुष्क विज्ञान का क्षेत्र है तथा दूसरी ओर विक्षिप्तता का क्षेत्र है। इन दो क्षेत्रों के बीच में कविता का क्षेत्र विद्यमान है, और सफल कवि होने के लिए मनुष्य में (Mental equilibrium) मानसिक समतुल्यता का होना आवश्यक है।

३—छायावाद की कविता की अपूर्णता

प्रायः यह देखा जाता है कि कवि एक भाव लिखता है उसके बाद वह एक निर्णय पर पहुँचता है। पहिला भाव वह पहिली पंक्ति में लिखता है और निर्णय दूसरी पंक्ति में लिख देता है। पर जिस क्रम से वह उक्त निर्णय पर पहुँचता है, उस क्रम को वह नहीं लिखता। कवि के लिए उसकी विचार-धारा स्पष्ट होती है इसलिए वह भाव और निर्णय के विचार-क्रम को लिखना अनावश्यक समझता है, पर पढ़नेवाले के लिए उसका यह विचार-क्रम दुस्तर हो जाता है। पाश्चात्य साहित्य में यह दोष क्षम्य माना जाता है, पर इसके यह अर्थ नहीं कि हिन्दी-साहित्य में भी यह

दोष क्षम्य माना जाय। पाश्चात्य देशों में जनता इतनी शिक्षित हो गयी है कि उससे लोग यह आशा करते हैं कि वह विचार-क्रम को समझ लेगी। पर भारतवर्ष में नयी विचार-धारा के होने के कारण यह आशा करना व्यर्थ होगा। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य की विचार-धारा एक सी नहीं होती, और प्रत्येक शिक्षित मनुष्य से यह आशा भी करना कि वह एक अन्य पुरुष के अव्यक्त विचार-क्रम को पूर्ण रूप से समझ जायगा, अनुचित होगा। इसलिए मैं इस दोष को इस समय अक्षम्य समझता हूँ।

यह कहा जा सकता है, और कहा भी जाता है कि कई पाश्चात्य कवियों ने अस्पष्ट कविताएँ लिखी हैं, विचार-क्रम को अधिक न समझाना कला का एक अंग है। मैं इसको ठीक मानता हूँ, पर उस अस्पष्टता में और इस अस्पष्टता में भेद है। अच्छा कलाकार यह जानता है कि कहाँ तक अस्पष्ट रहना उचित है। अस्पष्टता वहीं तक स्वाभाविक है जहाँ तक कल्पना काम करे। जहाँ कल्पना काम नहीं करती, अस्पष्टता अर्थ-हीनता के दोष में परिणत हो जाती है। दुर्भाग्यवश इस समय हिन्दी संसार में इतने उच्चकोटि के कलाकार कवि नहीं जितने उच्चकोटि के वे पाश्चात्य कलाकार थे या हैं जिनकी दुहाई दी जा रही है। अभी तो हिन्दी संसार के नये कवियों की कला का विकास हो रहा है। निकट भविष्य में यह सम्भव है, वे ही कवि जिन पर अर्थ हीनता की सीमा तक पहुँचने वाली अस्पष्टता का दोप मढ़ा जाता है इतने वड़े कलाकार वन जायँ कि उनकी अस्पष्टता कला का एक सुन्दर गुण वन जाय।

४—प्रत्येक व्यक्ति को कवि बनने की चेष्टा करना

इस अनधिकार चेष्टा ने ही वास्तव में छायावाद स्कूल को बदनाम कर दिया है। यह मानना पड़ेगा कि कई कविताएँ ऐसी होती हैं जो वास्तव में अर्थ-हीन व्यर्थ प्रलाप हैं, और ऐसी कविताएँ लिखने वाले बहुत बड़ी संख्या में मिलेंगे। मेरा विचार है कि कवित्व-प्रतिभा मनुष्य में एक प्राकृतिक गुण हुआ करता है, यह गुण अध्ययन से अथवा प्रयत्न करने से नहीं उत्पन्न किया जा सकता। एक युग में दो चार ही अच्छे कवि होते हैं, पर प्रायः यह देखा जाता है कि कवि बहुत बड़ी संख्या में उत्पन्न हो जाते हैं। इन व्यक्तियों में वास्तविक प्रतिभा का अभाव रहता है, केवल साहित्य से प्रेम रहता है और नाम पाने की उत्कट अभिलाषा रहती है। इस श्रेणी के लोगों को अधिक से अधिक कविताएँ लिखना इष्ट होता है, और इस प्रयास में वे जो कुछ थोड़ी सी प्रतिभा उनके पास है, उसका दुरुपयोग करते हैं। अर्थ पर बिना ध्यान दिये हुए वे कविताएँ लिखते जाते हैं और अपने मित्रों से प्रशंसा करवा कर वे महाकवि बनने में विश्वास करते हैं। ऐसी कविताओं में केवल शब्दाडम्बर मिलेगा और कुछ नहीं।

इस प्रकार की अर्थ-हीनता के दोष का उत्तर-दायित्व अधिक अंश में उस नये ढंग की कविता पर है जिसे मुक्त-काव्य के नाम से सम्बोधित किया जाता है। मुक्त काव्य छन्दहीन तथा अन्त्यानुप्रास-हीन कविता को कहते हैं, और इस प्रकार का काव्य केवल हिन्दी साहित्य के लिए ही नहीं वरन् विश्व के अन्य साहित्यों के लिए एक नयी चीज़ है। मुक्त-काव्य को जन्म दिया है अमेरिका के

एक कवि वाल्ट व्हिटमैन (Walt Whitman) ने। इस काव्य के जन्म लेने पर संसार भर में यह विवाद उठ खड़ा हुआ था कि क्या मुक्त-काव्य सम्भव है। बड़े बड़े तर्क और वितर्क हुए और उनसे कुछ निर्णय न हो सका। पर इतनी बात अवश्य है कि साहित्य के विद्वानों ने मुक्त-काव्य को नहीं माना और नये कवियों ने उसे नहीं अपनाया।

मुक्त-काव्य गति-प्रधान काव्य है और गति ही छन्दों का आधार है अथवा उनको जन्म दाता है। साधारण गद्य और मुक्त-काव्य में भेद इतना है कि गद्य का गतिमय होना आवश्यक नहीं है और प्रायः वह गतिहीन हुआ करता है, पर मुक्त-काव्य का गतिमय होना आवश्यक है। कविता निर्धारित गतिमय होती है। इस प्रकार कविता और मुक्त-काव्य में भेद यह हुआ कि मुक्त-काव्य की गति निर्धारित नहीं होती और कविता की गति निर्धारित होती है। इसको उदाहरण देकर इस प्रकार हम बतला सकते हैं।

गद्य १—गतिहीन

"अपनी आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए हमें जिन साधनों को अपनाना पड़ता है, उनमें ही सदा पाप और पुण्य मिला करता है।"

२—गतिमय

"हम जाते थे, किन्तु हमारे मार्ग में बाधाएँ थीं, और हृदय की भावना हमको चलने को प्रेरित कर रही थी।"

इसकी गति इस प्रकार है—

"हम जाते थे, किन्तु हमारे मार्ग में
बाधाएँ थीं, और हृदय की भावना
हमको चलने को प्रेरित कर रही थी।"

मुक्त-काव्य

"मेरा वह सुख-स्वप्न !
हृदय की
चंचल-गति में ध्वनित हो रहा
जीवन के पावन मधुवन के कलरव का उल्लास।"

कविता

"नहीं, कुछ नहीं, वही अज्ञात
जिसे हम कहते हैं भगवान,
परिस्थितियों का व्यापक चक्र
चलित करता है, और अजान
विश्व सब है उसके आधीन,
कल्पना केवल एक प्रधान।

कविता कला है, और कला को मैं कृत्रिम मानता हूँ। जिस समय हम गद्य को गतिमय बना कर कविता का रूप देते हैं; हम कृत्रिमता की शरण ले लेते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि बिना परिश्रम किये हुए हम गतिमय गद्य लिख लेते हैं, पर ऐसा बहुत कम होता है। मैं पहिले ही लिख चुका हूँ कि कविता वास्तव में वह गतिमय गद्य है जिसकी गति आदि से अन्त तक निर्धारित रहे।

सङ्गीत कविता का एक आवश्यक अंग है, और प्राय: यह देखा जाता है कि आगे बढ़ कर संगीत तथा कविता एक हो जाते हैं। संगीत और कविता में भेद केवल इतना है कि संगीत स्वर-प्रधान है और कविता भाव-प्रधान है। पर यदि हम स्वर-प्रधान संगीत में अच्छे से अच्छे भाव भर दें या भाव-प्रधान कविता में अच्छी से अच्छी स्वर-लहरी पैदा कर सकें तो कविता तथा संगीत एक हो जाता है और वही काव्य या संगीत सर्वोच्च होगा। यह देखा जाता है कि कवि प्राय: अच्छा सङ्गीतज्ञ होता है। संगीत का आधार होता है ताल अथवा गति, और यही आधार कविता का भी होता है। कहना तो यह पड़ेगा कि सङ्गीत के विकास होने के पहिले कविता का विकास हुआ क्योंकि जो कुछ गाया जाता है वह कविता का भाग है।

गति स्वयम् ही कृत्रिम है। जिस समय हम कविता करते हैं उस समय छन्द आप ही आप हमारे मुख से नहीं निकलते आते। हम सोचते हैं, हम दूसरों से बात करते हैं—यह सब गद्य में। गाने के लिए हमें गद्य को गति-मय बनाना पड़ता है, और इसी से कविता का विकास हुआ। कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि कोई कोई व्यक्ति लगातार छन्द कहते चले जाते हैं। इस स्थान में वास्तविकता यह होती है कि लगातार परिश्रम करने के बाद लोग छन्द बड़ी सरलता पूर्वक बना लेते हैं, उनका मस्तिष्क इतना संगीत पूर्ण हो जाता है कि वे अपने प्रत्येक वाक्य में गति उत्पन्न कर लेते हैं। पर ऐसी स्थित में हमारा यह कहना कि कविता स्वयम् ही प्राकृतिक है, अनुचित होगा।

कविता की कई परिभाषाएँ की गई हैं, पर प्राय: सभी अपूर्ण

ही मानी गयी हैं। विद्वानों के मत से साहित्य-दर्पण-कार विश्वनाथ की यह परिभाषा ही सब से अधिक मान्य है : "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" अर्थात् रस-मय वाक्य ही काव्य है।

वाक्य में रस उत्पन्न किया जाता है, और जितना ही अधिक रस उत्पन्न किया जा सके उतनी ही अच्छी कविता होगी। गति का रस से बड़ा गहिरा सम्बन्ध है और मेरे विचार से रस और सामंजस्य से भी बड़ा गहिरा सम्बन्ध है। वाक्य को रस-मय बनाने के लिए उसको गतिमय बनाना आवश्यक है, पर केवल गति ही रस उत्पन्न करने के लिए यथेष्ट नहीं है, गति में सामंजस्य (harmony) लाना भी आवश्यक है। सामंजस्य (harmony) ललित कला का प्राण है। जब तक स्वरों में सामंजस्य नहीं है, तब तक वह संगीत नहीं कहला सकता—सङ्केतों के गतिमय-सामंजस्य को ही नृत्य-कला कहते हैं। चित्रकला में भी रंगों में एक प्रकार का सामंजस्य (harmony) आवश्यक है, और यही बात दूसरी कलाओं के विषय में कही जा सकती है। केवल गति ही गद्य को कविता नहीं बना सकती क्योंकि प्रत्येक गद्य में पढ़ने के समय गति उत्पन्न की जा सकती है। समता केवल गति में ही नहीं, अंत्यानुप्रास में भी होनी चाहिये। इसीलिए रस उत्पन्न करने के लिए गद्य में गति उत्पन्न करनी पड़ती है, और उस गति को सामंजस्य के नियमों से बाँधना पड़ता है साथ ही अंत्यानुप्रास भी लाने पड़ते हैं।

कविता को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, अन्तर-रूप और बहिरूप। और कविता में रस उत्पन्न करने के लिए उन दोनों रूपों के सुन्दर निर्वाह की आवश्यकता है। किसी भी

रूप के निर्वाह में कमी पड़ने से कविता खराब हो जायगी। कविता का वहिर्रूप उसका कलेवर है और कविता तथा संगीत का वहिर्रूप एक ही है। जिस प्रकार संगीत का अन्तर-रूप स्वर है उसी प्रकार कविता का अन्तर-रूप भाव तथा भाषा है। कभी कभी भावों को प्रधानता देने के लिए हमें कविता के वहिर्रूप के कुछ अंगों को तिलाञ्जलि दे देनी पड़ती है, और इसीलिए संसार के साहित्य में हम अन्त्यानुप्रासहीन काव्य को पाते हैं। अन्त्यानुप्रासहीन वना देने पर कविता के रस में जो कमी आ जाती है वह भाषा और भाव की विशेष सुन्दरता से पूरित कर दी जाती है।

यह वात ध्यान में रखनी पड़ेगी कि रस को उत्पन्न करने के लिए हमें कहीं कहीं शुद्ध व्याकरण को भी वलिदान करना पड़ता है। यह व्याकरण के नियमों का उल्लंघन हमें केवल कविता को गति-प्रदान करने के लिए करना पड़ता है। अव यदि हम भावों को और भी सुन्दर वनाने के लिए गति की समता को भी हटा देते हैं, तो जो कुछ हम लिखते हैं वह कला की दृष्टि से तो सर्वथा तुच्छ है ही, व्याकरण की दृष्टि से भी तुच्छ हो जाता है। कला सामंजस्य की द्योतक है, विपमता का कला में कोई स्थान नहीं है। मुक्तकाव्य सम नहीं होता। उसकी नींव विपमता पर है। साथ ही व्याकरण के तोड़ मरोड़ से वह शुद्ध तथा सुन्दर गद्य भी नहीं कहा जा सकता। मेरे विचार से तो मुक्त-काव्य में जितना सौन्दर्य गति से प्रदान किया जाता है वह व्याकरण के नियमों के उल्लंघन से हर लिया जाता है। इसलिए मुक्त-काव्य यदि गद्य से अधम नहीं तो उससे अच्छा भी नहीं कहा जा

सकता। कला के क्षेत्र में उसका कोई स्थान नहीं।

कला कृत्रिम है, यह पहिले ही कहा जा चुका है, और इसी लिए कविता को पुराने आचार्यों ने नियमों से बाँध दिया था। केशवदास हिन्दी में इस नियम-बद्ध काल के प्रथम आचार्य थे और उसके बाद कविता को इस बुरी तरह से नियमों से बाँधा गया कि उसके बहिर्रूप के साथ उसके भावों को भी बनावटी बना दिया गया। पर इसके ये अर्थ नहीं होते कि देव तथा बिहारी अच्छे कवि नहीं थे। जिस युग के वे कवि थे, उस युग की अभिरुचि के अनुसार वे सर्व श्रेष्ठ कवि थे। और कलाकार तो वे सब युगों के लिए बहुत ऊँचे हैं। आज युग बदल गया है और हम बिहारी तथा देव की कृत्रिमता को बुरा कहते हैं। हाँ, उन कवियों ने शारीरिक सौन्दर्य ही देखा। आत्मिक सौन्दर्य नहीं; वे शब्दों के साथ खेलते थे, भावों के साथ नहीं। यह युग मानसिक विकास का है, भावों के साथ खेलने का है। अन्तर केवल इतना है।

विचार-स्वातंत्र्य होने के साथ ही आधुनिक छायावाद आदर्श की ओर झुका हुआ है, यद्यपि कोई भी छायावाद का कवि यह न मानेगा कि साहित्य आदर्श-मय होना चाहिये। यहाँ दृष्टिकोण का प्रश्न आ जाता है; आदर्श-वाद के युग के होने के कारण कविताओं में आदर्शों का मिलना स्वाभाविक ही है, पर इन आदर्श-मयी कविताओं में शिक्षा देने का भाव नहीं है—ये आदर्श स्वाभाविक रूप से कविता की पंक्तियों में गुँथे हुए हैं। ऐसी भी कविताएँ छायावाद में मिलेंगी जो मान्य आदर्शों के प्रतिकूल सिद्धान्तों की परिपोषक हैं और उन कविताओं का तथा उस प्रकार

श्री भगवती चरण वर्मा

मधुकण

धीरे धीरे मलय पवन—
ओ मधुऋतु के मलय पवन !

कहो तुम्हारे झोकों में है
किस विस्मृति का आलिङ्गन ?
सौरभ के पुलकित अधरों पर
किस मादकता का चुम्बन ?

जीवनमय है यह कम्पन !
जीवन है छोटा सा क्षण—
क्षण भर का छोटा सा क्षण !

सूने उर का प्रेम बन गया
आज तुम्हारा आकर्षण,
मेरे मानस में भर जाओ
अपने मानस का मधुकण—

सागर सा प्रशान्त मधुकण !

अपनापन है जग का भ्रम—
कलुष भरा यह काला भ्रम !

कितने दुख, कितनी करुणा से
घिरा हुआ है हाय अहम !
अन्धकार ही अन्धकार है
यह जीवन का मार्ग विषम !

ओझल है विकास का क्रम ;
ओ प्रातः की प्रथम किरण—
स्वर्ण लुटाती हुई किरण

अन्धकारमय पागल जग है ,
अन्धकारमय वहीं मरण
उसके जीवन में तुम भर दो ,
अपने जीवन का मधुकण !

सत्य शिवं सुन्दर मधुकण

परिचय

[१]

यह न समझना देवि ! कि मुझको
निज ममत्व का ज्ञान नहीं ,
इस विस्मृति के विषम वक्ष में
रुदन नहीं, मुसकान नहीं ;

इस सपनों से भरी नींद में
हलचल नहीं विराम नहीं,
अरे अधर के इस प्रदेश में
पतन नहीं, उत्थान नहीं।

[२]

एक, एक के बाद दूसरी—
तृप्ति प्रलय पर्यन्त नहीं,
अभिलाषा के इस जीवन का
आदि नहीं है, अन्त नहीं!

यहाँ सफलता असफलता के
बन्धन का अभिशाप नहीं,
यहाँ निराशा औ' आशा का
पतझड़ नहीं, वसन्त नहीं!

[३]

जो पूरी हो सके कभी भी
मेरी ऐसी चाह नहीं,

यहाँ महत्त्वाकांक्षाओं की
परिधि नहीं है, थाह नहीं,

वचा हुआ हो निखिल विश्व का
ऐसा कोई भाग नहीं,
उद्गारों के प्रवल स्रोत का
रुकता कभी प्रवाह नहीं।

[४]

क्या भविष्य है ? नहीं जानता
मुझको ज्ञात अतीत नहीं,
सुख से मुझको प्रीति नहीं है
दुख से मैं भयभीत नहीं,

लड़ता ही रहता हूँ प्रतिपल
वाधाओं का पार नहीं,
काल चक्र के महासमर में
हार नहीं है, जीत नहीं।

[५]

इस मादकता के प्रवाह में
कसक नहीं, उल्लास नहीं।
मेरी इस उत्तप्त भूमि में
शिशिर नहीं, मधुमास नहीं।

ठसक नहीं वैभव की मुझको,
निर्धनता का ताप नहीं।
इस समता के उच्च-भाव में
गर्व नहीं निःश्वास नहीं।

[६]

जो कि जला सकता हो मुझको
ऐसा कोई ताप नहीं,
दीवानों को लग सकता हो
जग में ऐसा शाप नहीं।

यहाँ असम्भव अथवा सम्भव
पर मुझको विश्वास नहीं।
मेरी क्रीड़ा के प्रांगण में
पुण्य नहीं है पाप नहीं।

[७]

इस जीवन के तीखेपन में
विनय नहीं, अभिमान नहीं;
"और, और" को छोड़ यहाँ पर
और दूसरा ध्यान नहीं!

इस अनन्त का कोई भी कण
मेरे लिए अजान नहीं।
यह न समझना देवि कि मुझको
निज ममत्व का ज्ञान नहीं।

कवि

[१]

कौन तुम अग्नि शिखा की ज्वाल ?
तुम्हारा सुधा पूर्ण गायन—
मधुर कोमल शिशु का सा हास ;
कल्पना के सुख का सागर ,
तुम्हारा है अनुपम उल्लास !

तुम्हारे निर्मल भाव
और प्रमुदित तरङ्ग की ताल !
शान्ति के मण्डल में है व्याप्त
तुम्हारा यह अशान्त संसार ;
और अनिमेष दृगों की ज्योति
क्षितिज को कर जाती है पार !

तुम्हारी क्रीड़ा के हैं क्षेत्र
सात आकाश सात पाताल !

तुम्हीं हो जीवन के प्रतिबिम्ब,
अमरता के पावन उपहार ;
तुम्हीं में है सत, चित, आनन्द,
तुम्हीं हो जग के बेसुध प्यार।

विश्व का व्यापक कल्प—
तुम्हारा कल्प-शून्य की चाल !

[२]

अरे तुम अग्नि-शिखा की ज्वाल !

जगत के तुम मतवालेपन,
वासनाओं के मुक्त प्रवाह ;
कसक के उर के ऐ कम्पन !
तुम्हारा है विद्रोह अथाह !

तुम्हारे ये उद्‌गार—
क्रान्ति का यह कर्कश भूचाल !

एक अज्ञात विकल हलचल
विकृत सौरभ-मय है जीवन,
और उन्माद भरा परिमल—
तुम्हारा अनुपम अपना पन !

भ्रान्ति के कुछ थोड़े से दिवस—
और दीवानेपन का काल !

उठे हो गये पलक में लोप—
बुलबुले ये जल के दो चार,
चमकते ही राका का अङ्क
निगल ले जिसको वह उपहार—

विश्व का व्यापक स्वप्न—
तुम्हारा स्वप्न-शान्ति का काल !

[२]

कौन तुम अग्नि-शिखा की ज्वाल ?

कल्पना के मण्डल के शून्य
उमङ्गों के कम्पित संगीत;

तुम्हारा युग—'आदर्श भविष्य',
'आज' है बीता हुआ अतीत!

तुम्हारा शुभ सन्देश!
तुम्हारा निर्मल हृदय विशाल!

विश्व को देकर जीवन-दान
कर रहा आशा का संचार;
और उस विस्मृति का साम्राज्य
तुम्हारा है जग को उपहार।

जिसे हम सब कहते हैं भ्रान्ति
और आशा का सुन्दर जाल!

कि जिसमें पापों के अम्बार,
अपरिमित कलुषित भ्रष्टाचार,
स्वप्न से हो जाते हैं क्षणिक;
वास्तविक है सुख का संसार!

एक दैवी आलोक—
अरे तुम अग्नि-शिखा की ज्वाल!

मेरी आग

[१]

निज उर की वेदी पर मैंने महायज्ञ का किया विधान,
समिधि बना कर ला रक्खे हैं चुन चुन कर अपने अरमान;
अभिलाषाओं की आहुतियाँ ले आया हूँ आज महान,
और चढ़ाने को आया हूँ अपनी आशा का बलिदान;

अभिमन्त्रित करता है उसको इन आहों का भैरव राग।
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग!

[२]

आमन्त्रित हैं यहाँ कसक से क्रीड़ाएं करने वाले,
हृदय-रक्त से निज वैभव के प्यालों को भरने वाले;
जीवन की अतृप्त तृष्णा से तड़प तड़प मरने वाले,
अंधकार के महा उदधि में अन्धों से तरने वाले;

फूल चढ़ाने वे आये हैं जिनमें मिलता नहीं पराग
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग!

[३]

इस उत्सव में आन जुड़े हैं हँस हँस वलि होने वाले,
निज अस्तित्व मिटा कर पल में तन मन धन खोने वाले;
उर की लाली से इस जग की कालिख को धोने वाले,
हँसने वालों के विषाद पर जी भर कर रोने वाले;

आज आँसुओं का घृत ले कर आया है मेरा अनुराग।
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग!

[४]

यहाँ हृदय वालों का जमघट पीड़ाओं का मेला है,
अर्घ्यदान है अपने-पन का, यह पूजा की वेला है;
आज विस्मरण के प्राङ्गण में जीवन की अवहेला है,
जो आया है यहाँ प्राण पर वह अपने ही खेला है;

फिर न मिलेंगे ये दीवाने, फिर न मिलेगा इनका त्याग।
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग!

[५]

लपटें हों विनाश की जिनमें जलता हो ममत्व का ज्ञान,
अभिशापों के अङ्गारों में झुलस रहा हो विभव विधान;
अरे क्रान्ति की चिनगारी से तड़प उठे वासना महान,
उच्छ्‌वासों के धूम्र-पुञ्ज से ढक जावे जग का अभिमान;

आज प्रलय की वह्नि जल उठे जिसमें शोला बने विराग।
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग!

क्रय-विक्रय

[१]

हँस कर पूछ रही हो "लोगे क्या जीवन का मोल?"
अरी बावली इतना साहस ! अपनी गाँठ टटोल;
मोल लेने आयी हो आग !

सुखद सौरभ-युत मधुर पराग
प्रकृति के तुम कोमल उपहार
सम्हल कर करना क्रय-विक्रय
सम्हल कर पग रखना इस पार
यहाँ प्रतिपल, प्रतिदिन, प्रतिकाल
वहा करती है तप्त बयार ।

इस विनाश के मरु-प्रदेश का दे सकती हो मोल ?
अरी बावली, सोच समझ कर अपनी बोली बोल !

[२]

रूप-राशि से भरा हुआ है यह समस्त संसार ;
रूप-राशि पर मत इतराना, रूप-राशि है हार।
तुम्हारा मद से उन्नत भाल !

और यह वसुधा का भण्डार
जिसे तुम कहती हो यौवन ,
निराला जिसका आकर्षण ,
एक पल रंग राग नर्तन ,
स्वप्न के सुख का छोटा क्षण—
यही है सकल तुम्हारा धन।

इसके बल पर महा-प्रलय से करने आयीं प्यार !
जल जाओगी, रूप-राशि ही है यौवन की हार।

[३]

यहाँ लोटते हैं पैरों पर ऋद्धि, सिद्धि, सुखसार ;
है छोटा सा एक खिलौना यह विशाल संसार
कि जिस की कण हो तुम सुकुमारि !

यहाँ उठता अनन्त सङ्गीत ,
नृत्य करते हैं जीवन मरण ।
यहाँ पर रूप-राशि, सौन्दर्य
भेंट चढ़ता रहता प्रतिक्षण ।
सम्हल कर तुम पग रखना यहाँ ,
मिटा देगा यह आकर्षण !

लेने के देने पड़ते हैं, मत आना इस पार ;
काँप उठोगी जब देखोगी तुम मेरा संसार !

[४]

हँस कर दिखा रही हो अलसाई सी आँखें लाल ;
तुम्हें गर्व है इन आखों की मदिरा पर हे बाल !—
किन्तु भ्रम है, भ्रम है निःसार !

अभी हैं यौवन के दिन चार ,
मधुरिमा के वैभव का काल ,
गर्व से ऊँचा सुन्दर भाल ,
और मद से इठलाती चाल !
किन्तु है क्षणिक क्षीण आवेश—
प्रबल है प्रबल भयानक काल !

इन आँखों का क्षणिक नशा है, गर्व न करना बाल ;
यहाँ उमङ्गों की मदिरा में है ऐश्वर्य विशाल !

[५]

क्या हूँ? इस अनन्त में कण हूँ, मेरा कितना मोल!
पर अनन्त पाओगी मुझ में, अपनी आँखें खोल—
यहाँ देखोगी रूप विराट।

दास हूँ मैं, मैं हूँ सम्राट,
वास्तविकता हूँ मैं हूँ भ्रान्ति,
पुरुष हूँ कहीं, प्रकृति हूँ कहीं,
शान्ति हूँ कहीं, कहीं हूँ क्रान्ति,
चेतना हूँ, मैं हूँ उन्माद,
साधना हूँ मैं और अशान्ति!

फिर भी पूछ रही हो लोगे क्या जीवन का मोल!
अरी बावली सोच समझ कर अपनी बोली बोल!

कसक कहानी

[१]

इस दुख में पाओगी सुख की धुँधली एक निशानी ,
आहों के जलते शोलों में तुम्हें मिलेगा पानी ,
रो रो देते मूर्ख यहाँ पर, हँस हँस देते ज्ञानी ,
अरी दिवानी! सोच समझ कर सुनना कसक-कहानी ;

यहाँ कल्पना का संसार—
'छाया' है जिसका आधार ,
मनसिज, मलय, मधुप, मधुमास ,
कमल, कुञ्ज, उल्लास, विकास ,
नवल उमङ्गों का उपहार ,
जीवन की सुखमा का सार—

वह बन गया पलक में बन अपलक नयनों का पानी ,
स्मृति ही शेष रह गयी विस्मृति की अब एक निशानी ।
'माया के फेरे में पड़ कर नाच रहा था ज्ञानी !'
अरी दिवानी ! बस इतनी सी मेरी कसक-कहानी !

मानस की प्रमुदित लहरें थीं, थी प्रातः की वेला ,
खेल रहा था मचल मचल कर पागल हृदय अकेला ,
यहाँ हलाहल था, हाला थी, था प्यालों का मेला ,
जीवन का मतवाला-पन था, जनरव का था रेला ,

मुसकाता था अरुण प्रभात ,
और हँस रहा था जल जात ;
किन्तु लोप हो गया विलास ,
रुदन बन गया सहसा हास ;
घिर आयी अँधियाली रात ,
उमड़ पड़े लो सागर सात ;

'थी प्रातः की अरुण उषा में अन्धकार की रेखा !'
काल-चक्र के महा-प्रलय में बस इतना ही देखा ।
नत-मस्तक सगर्व चलते थे, झुकते थे अभिमानी ,
अरी दिवानी ! विश्व-व्याप्त है मेरी कसक-कहानी ।

कुछ रोते थे, "जग सपना है !" "अपना-पन ही छल है !"
कुछ हँसते थे, "जीवन सुख है, दुख ही भ्रान्ति प्रबल है !"
काल-चक्र है सबल, और यह विकल हृदय निर्बल है ;
इन दोनों में भ्रमता रहता यह ममत्व पागल है !

संशय कभी, कभी विश्वास ,
कभी उमङ्ग, कभी निःश्वास ,
आज पुण्य है, कल है पाप ;
भ्रम ही है भ्रम का अभिशाप !
एक दूसरे का है त्रास ,
उनका रुदन हमारा हास ।

जो न शान्त हो सके, हृदय की यह कैसी हलचल है !
कुछ थोड़े से क्षण, जीवन की अवधि आज है, कल है ।
किन्तु यहाँ उठता रहता है प्रतिपल आगी पानी ,
अरी दिवानी ! एक पहेली है यह कसक-कहानी ।

यहाँ प्रकृति है पाप, पुण्य आत्मा का पूर्ण दमन है,
स्वेच्छा है भ्रम-पाश यहाँ पर, मुक्ति नियम-बन्धन है,
यहाँ पूज्य अज्ञात, उपेक्षित तर्क तथा दर्शन है,
अंधकार ही अंधकार यह छोटा सा जीवन है।

जो अनुकूल, वही प्रतिकूल
उनका फूल हमारा शूल,
अरे व्यर्थ है सकल प्रयास
जो कुछ है वह है विश्वास;
व्यर्थ भावना, यह निर्मूल
संशय है जीवन की भूल !

यहाँ रंग है व्यंग, साधना शुष्क यहाँ पावन है;
अपने ही के लिए यहाँ पर दूषित अपना-पन है।
यहाँ अंध-विश्वास धर्म की सुन्दर एक निशानी;
अरी दिवानी ! एक व्यंग है मेरी कसक-कहानी।

यहाँ मिलेगी आग, यहीं पर तुम्हें मिलेगा पानी,
अरे मिलेगी स्वर्ग नरक की तुमको यहीं निशानी,
इतना रखना याद यदपि है बीती बात पुरानी,
"रह जाते हैं मूर्ख यहाँ पर, वह जाते हैं ज्ञानी।"

अरुण अधर का सुमधुर हास,
नव-यौवन का विकृत विलास
एक व्यंग था, व्यंग अजान
था पतंग का स्वप्न महान;
दुख का उजड़ा हुआ प्रवास
इस जीवन का है उपहास।

इस ममत्व से विश्व विजित है, रखना याद दिवानी
नहीं बचा है इस प्रवाह से कोई भी अभिमानी।
अपनी अपनी सब कहते हैं, सुनता कौन बिरानी,
अरी दिवानी! सोच समझ कर सुनना कसक-कहानी।

आत्म-समर्पण

[१]

मधु छलक रहा था उर में
मैं था सुख का दीवाना;
अलसायी सी आँखों में
था झूल रहा मैखाना;
पागल सा खेल रहा था
विस्मृति से मैं मनमाना;

हर रंग उमँग से पूरित
हर राग यहाँ मस्ताना;
उठ पड़ा दर्द सा बन कर—
है इसको कठिन छिपाना
—मेरे सूने जीवन में
हे देवि तुम्हारा आना !

[२]

हाथों में नाच रहा था
मेरे वैभव का प्याला;
मैं बना हुआ था साकी
मैं ही था पीने वाला !
कोई कहता था, "विष है !"
कोई कहता था, "हाला !"
मैं हँसता था मस्ती में
मेरा था रंग निराला ।

मैं काँप उठा बे-सुध सा
छुट पड़ा भूमि पर प्याला;
चितवन ने देवि तुम्हारी
यह चूर चूर कर डाला !

[२]

✓ देखा था मौन निशा में
तारों का हँस कर आना;
कलरव से भरी उषा में
देखा उनका सकुचाना !
मलयानिल के चुम्बन से
कलियों का खिल खिल जाना,
शबनम के अश्रु बहा कर
फिर फूलों का मुरझाना !
जीवन का और मरण का
मैं लिखता था अफ़साना;

पर माया सा बन आया
उन्मत्त तुम्हारा गाना ।

[४]

वीणा की स्वर-लहरी है
कविता है देवि तुम्हारी;
है एक कसक सी उर में
मर मिटने की तैयारी;
अपना अपना सपना है,
है अपनी अपनी बारी;
लो भड़क उठी है उर में
अभिलाषा की चिनगारी;
मैं आज डुबा आया हूँ
अपनी आशाएँ सारी;
ले चलो कर चुका हूँ मैं
मर मिटने की तैयारी ।

नववधू के प्रति

[१]

कहाँ पर तुम आयी हो छोड़
देवि शैशव का कोमल भार ?
मोद से भरी सुखद रस-धार,
प्रथम मधु-ऋतु का हास विलास,

उमङ्गों की स्वच्छन्द बयार,
और कलिका का गंधोच्छ्वास,
उषा का सुरभित सुख-शृंगार
कहाँ पर तुम आयी हो छोड़ ?

[२]

ख़ींच लाया तुमको इस पार—
प्यार का आकर्षण है प्यार !
छलकता है पग पग पर देवि,
आज मादकता का उन्माद;
बना नयनों का कोमल हास,
विभव का गुरुता-पूर्ण प्रसाद ।
तुम्हारा पागल प्यार अपार,
खींच लाया तुमको इस पार !

[३]

दृष्टि नीची है, ऊँचा माथ !
कल्पना है कम्पन के साथ !

नये जीवन का पहिला पृष्ठ,
देवि तुमने उलटा है आज;
नाचती है मुख पर मुसकान,
हृदय में है हलचल का राज;
एक हो पति से हुई सनाथ—
दृष्टि नीची है, ऊँचा माथ!

[४]

जुड़ गये आज प्राण से प्राण,
गहन है गहन प्रेम की चाल!
लजीला सकुचाया सा मौन,
मोह लेता है पति का प्यार;
हिलोरें भरता है उल्लास,
नीर है नयनों को उपहार—
देवि होते हैं आज निहाल,
विहँस हँस खेल प्राण से प्राण!

उपहार

कलरव सी उर उपवन में

संगीत सुनाती आयीं;

मधु की पागल प्याली सी

उन्माद लुटाती आयीं;

लतिका सी तरुवर-पति पर

तुम प्यार चढ़ाती आयीं,

कुसुमावलि सी ऋतु-पति पर

सौरभ बरसाती आयीं;

मानस की लहरों में तुम

रस-धार बहाती आयीं;

रीझी सी और चकित सी

तुम किसे रिझाती आयीं ?

स्वागत

[१]

आओ जीवन की रानी—
मेरे जीवन में आओ !
मधुऋतु की पागल कोकिल
मधु में पंचम भर जाओ !

ओ सुख के मीठे सपने
विस्मृति के फूल लुटाओ,
उन्माद भरी मादकता
अपना आसव भर लाओ!

मैं बनूँ प्यार का कम्पन,
तुम उसकी मधुर कहानी;
मेरे जीवन में आओ
मेरे जीवन की रानी!

[२]

कल्पना किया करती है
मेरे मानस में क्रीड़ा,
खेला करती है निश दिन
प्राणों से मीठी पीड़ा,
है सिसक रही युग युग की
प्यासी सी यह अभिलाषा,

हँसती रहती है उर में
मेरी चिर-संचित आशा ;

मैं स्वयम् डुबालूँ जिसमें
तुम वह प्रवाह बन जाओ !
मेरे सपने की प्रतिमा
सपना सी बन कर आओ !

[२]

मैं सागर का गर्जन हूँ ,
तुम सरिता की रँगरेली ;
मैं जीवन का विप्लव हूँ ,
तुम उसकी मौन पहेली ;
मैं ताप बनूँ पावक का ,
तुम हो प्रकाश की माला ;
उन्माद बनूँ मैं मधु का ,
तुम हो सुरभित मधुशाला ;

मैं बनूँ क्रान्ति की हलचल,
तुम करुणा दीवानी सी।
मैं तड़प उठूँ आँधी सा,
तुम बरस पड़ो पानी सी।

[४]

मेरी आहों के शोलों
का ज्वालामुखी प्रबल हो,
उच्छ्वास तुम्हारा धूमिल
नभ मण्डल की हलचल हो,
मैं बनूँ नाश विशृंखल
तुम महा प्रलय अविकल हो,
मैं बनूँ नृत्य ताण्डव का
तुम उसकी गति चंचल हो,

विद्रोह भरे जीवन की
तुम महाशक्ति बन जाओ!

मेरे पतझड़ की झंझा !
मेरे पतझड़ में आओ ।

[५]

मेरे सोये से उर में
कुछ जागृति की कम्पन सी,
अलसायी सी आँखों में
मदिरा के पागलपन सी,
मेरे सूने से जग में
तुम वैभव के स्पंदन सी,
आओ ! जीवन-निधि आओ
जीवन में तुम जीवन सी ।

जीवन जलनिधि में मेरी
तृष्णा अतृप्त बन जाओ ।
मेरे जीवन की रानी !
मेरे जीवन में आओ ।

स्मृति

आज कितनी सदियों के बाद—
देवि ! कितनी सदियों के बाद

कल्पना के कम्पन के साथ
जग उठी है सोयी सी याद ,

तड़प कर सूने उर के साथ
मिल गया खोया सा उन्माद,

वना हलचल निर्जीव विषाद
देवि! कितनी सदियों के वाद।

❦ ❦ ❦

आज मेरे जीवन का प्यार—
देवि! मेरे जीवन का प्यार

युगों का छिपा हुआ अज्ञात
अरी छाया सा मधुर दुलार,
कसक सा कोमल दुख सा मौन,
विस्मरण सा भूला उद्गार

वन गया उर का विचलित भार
देवि! मेरे जीवन का प्यार।

❦

मेरी प्यास

पीने दे ! पीने दे ओ !

यौवन मदिरा का प्याला !

मत याद दिलाना कल की ,

कल है कल आने वाला ।

है आज उमङ्गों का युग—

तेरी मादक मधुशाला।

पीने दे जी भर रूपसि

अपने पराग की हाला!

卐 卐 卐

ले कर अतृप्त तृष्णा को

आया हूँ मैं दीवाना,

सीखा ही नहीं यहाँ है

थक जाना या छक जाना,

यह प्यास नहीं बुझने की

पी लेने दे मन माना,

बस मत कर देना रुपसि

'बस करना' है मर जाना।

जीवन

यह अशान्त सा जीवन हो ।

यहाँ प्यार में कसक मिली हो, यौवन में पागलपन हो ॥

पंचम की मादक उठान हो और मलय में हो उन्माद ।

कलिका का उच्छ्वास-भरा विस्मृति का सुरभित मधुवन हो ॥

मानस की लहरों में क्रीड़ा करती हो हलचल दिनरात ।

मेरी पुलकित श्वास-तार पर कुछ करुणा का कम्पन हो ॥

एक हाथ मेरा विनाश हो और दूसरा हो निर्माण ।

विश्व खिलौना बने, कहीं पर हँसी, कहीं पर रोदन हो ॥

किस ओर ?

प्रश्न—मधुर हास्य के शुष्क व्यङ्ग में है वेदना अथाह ,
इन अलसाई सी आँखों में भरी हुई है चाह ,
झुक झुक पड़ते हो पागल से, है कैसा उत्साह ?
हे कवि कहाँ लिये जाता है यह उन्माद-प्रवाह ?

उत्तर—भूल रही हो देवि, न कहना तुम इसको उन्माद ;
अभिलाषा का जीवन ही है एक अनन्त विषाद ।
कहाँ ? स्वयम् ही नहीं जानता है यह पथ अनजान !
इस भविष्य के अन्धकार का कहो किसे है ज्ञान ?

देखा था कल्पना स्वप्न की मादकता में प्यार ,
और सुना था रस से पूरित है समस्त संसार ।
किन्तु टूटते ही रहते हैं आशाओं के तार ,
जीवन ही बन गया हाय रे अब जीवन का भार ।

❧ ❧ ❧

कहाँ? सँभल कर, मुझे न टोको है कल की ही बात—
मदिरा थी, विस्मृति का पल था, अन्धकार की रात ;
रस देखा था ऐसा, जैसा नहीं किसी को ज्ञात ,
पर लगते होठों से छलका, उफ़ स्मृति के आघात !

❧ ❧ ❧

कहाँ ? डुबाने को जाता हूँ अपना सारा ज्ञान ।
एक बूँद पर ही कर दूँगा मैं ममत्व का दान ,
एक बार फिर और करूँगा उस मदिरा का पान ,
कहाँ ? जहाँ होता है प्रतिपल विस्मृति का आह्वान !

❧

आशा

सोये से उद्गार पड़े थे, खोई सी थी वानी,
मेरे उर में मरु-प्रदेश था, आँखों में था पानी !
खेल रही थी मेरे प्राणों से पीड़ा मनमानी,
दुखे हुए दिल पर हँसती थी यह दुनिया दीवानी !
हे मेरे जीवन की रानी !

आया हूँ फिर से भड़का कर अपनी प्यास पुरानी,
सूखे होठों पर आशा की लेकर एक कहानी !

* * *

चञ्चल गति से नाच रही है बिछुड़ी हुई जवानी !
लौट पड़ी मेरी मंज़िल बन अभिलाषा अभिमानी !
चमक उठी धुँधले नयनों में फिर से याद पुरानी !
है उछाह में यहाँ चाह की धुँधली एक निशानी !
हे मेरे जीवन की रानी !

आज भुला कर अपने-पन को अपना ही अज्ञानी
लिख लाया विश्वास-पटल पर अपनी प्रेम-कहानी !

लाज

अलि-सम पुलकित नव-कलिका पर ले वैभव सुख साज
प्रियतम अपनी प्यास बुझाने घर आये जब आज—
वैरिनि बनी निगोड़ी लाज !

नाच रहा था चञ्चल गति से सखि उर में उल्लास ,
मेरे अधरों पर हिम-जल सा छलक छलक रहा था हास !
अरुण कपोलों पर यौवन की भीनी सी मुसकान ,
स्वेद-कणों की मुक्ता-माला मस्तक पर अम्लान ।
किन्तु पलक झुक गये न सह कर वह सुख-भार महान ;
नयन ढूँढने लगे भूमि पर अपना खोया ज्ञान ;
पल भर भी मैं देख न पायी अपने पिय को आज ,
जल न गयी क्यों हाय सखी री आज निगोड़ी लाज !

प्रेम की प्यास

युग युग का वियोग पल भर का प्रियतम का सहवास,
तृषित नयन, मन तृषित श्रवण, रह गयी अपूरन आस,
सखि री प्रवल प्रेम की प्यास !

इस ज्वाला में जलने का है अलि विचित्र इतिहास !
उदधि उवल वन गया अश्रु कण, नदी सूख निःश्वास;
प्रिय-दर्शन है साध हृदय की, प्रिय की छवि उल्लास,
प्रियतम तन, मन, धन, सखि प्रियतम जीवन मरण विकास !
तृप्ति असम्भव यहाँ, सदा है मृग-तृष्णा का त्रास,
बुझ न सकी है, बुझ न सकेगी, सजनि प्रेम की प्यास ।

संसार

संसार

[१]

पथिक-सम्हल कर ! भूल न जाना, है यह पथ अनजान ,
छाया में अस्तित्व यहाँ है, माया में है ज्ञान !
सुख दुख की, इस अन्धकार में, है किसको पहिचान !
भला बुरा कुछ नहीं यहाँ पर, यह केवल अनुमान !

आने वाले ! तनिक सम्हाले रहना अपना भार ,
यहाँ हार में विजय मिलेगी, यहाँ विजय में हार !
अपना अपना कल्पित सपना, अपना अपना प्यार !
विस्मृति के दिन चार—इसी को कहते हैं संसार ।

[२]

विस्मृति के दिन चार
अल्प जीवन का कल्प अपार!
किलोलें करते हैं दिन रात
जहाँ उर के शत शत उद्गार,
हिलोरें भरता जहाँ अशान्त
भावनाओं का पारावार,
यही है अरे स्वप्न सा एक
आज कल का प्रशान्त संसार!

अन्धकार की रात
घात प्रतिघात युक्त अज्ञात!

चाह में जहाँ मिली है आह,
जहाँ है सुख में दुख की बात,
कसकता है वैभव के साथ
जहाँ असफलता का आघात,

यही है मधुर विधुर संसार
जहाँ हैं भ्रम के सागर सात !

[३]

अरे युगों का भार लिए हिम-आवृत सिर पर,
असफलता पर अश्रु वहाते हुए निरन्तर
देख देख अनिमेष दृगों से ऊँचा अम्बर
यहाँ मौन निःश्वास भरा करते हैं भूधर !

चूर चूर कर शिला खण्ड से ले कर टक्कर,
अविकल गति से प्रेरित होकर अपने पथ पर,
स्वर-लहरी से भरी रागिनी गा कर सत्वर
यहाँ झर रहे झूम झूम कर निर्मल निर्झर !

ऊपर से नीचे को गिरना—उफ़ जीवन की हार !
इसी लिए करता प्रपात अनियन्त्रित हाहाकार ।
किन्तु यहाँ नीचे ही नीचे, ऐ सरिता की धार !
अरे विन्दु के योग, सिन्धु है आदि अन्त का सार ।

[४]

अवनि-वक्ष पर लक्ष लक्ष वृक्षों के बन्धन ,
और प्रकृति के उग्र रूप का विषम विवर्तन ,
गज भरते चिग्घाड़, सिंह करते हैं गर्जन ,
यहाँ कँपा देते हैं उर को निर्जन कानन !

यहाँ छलाँगें भरता है भयभीत हरिणदल ,
यहाँ कर रहे हैं शृगाल कर्कश रव प्रतिपल ,
भक्षक बनता सबल, भक्ष्य बनता है निर्बल ,
यहाँ कभी जलधार, कभी जलता दावानल !

[५]

जहाँ रस में असीम उल्लास ,
सुरभि में है मतवाला पन ,
भ्रमर के गुञ्जन में संगीत ,
मलय के झोकों में कम्पन ;
सुधामय वसुधा के भाण्डार
यहाँ हँसते शत शत मधुवन !

लताएँ लहराती हैं और
झूम उठती हैं वे हिल हिल,
मलय के चुम्बन पर हो मुग्ध
हँस रही हैं कलियाँ खिलखिल,
कर रहे हैं प्रेमालिंगन
कुञ्ज के कुसुम गले मिलमिल !

बौर पर बौरा कुहू समाज
यहाँ भरता पंचम की तान,
नाचता है उन्मत्त मयूर
लुब्ध सा, खो कर सारा ज्ञान,
गूँजते रहते हैं प्रतिकाल
यहाँ कलरव के स्वर अनजान।

[६]

यहीं पर हृदय हीन मरुखण्ड
उगलते हैं शोले दिन रात,

स्वयम् तो जलते ही हैं, किन्तु
जलाते रहते हैं पर—गात,
आग सा बन जाता है हाय
जिन्हें छूते ही मधु-ऋतु वात !

वायु-मण्डल उत्तप्त प्रचण्ड
भड़कता है बन कर उद्भ्रान्त,
और निर्जनता का साम्राज्य
करवटें लेता जहाँ अशान्त,
जहाँ रह रह कर गहरी साँस
खींचता है नीरव एकान्त !

जहाँ छोड़ता है प्रचण्ड मार्तण्ड अग्निशर,
उत्पीड़ित हो जहाँ धरा के कण मिलमिल कर
संघर्षण के साथ, छोड़ हुङ्कार भयङ्कर
बन जाते हैं उग्ररूप धर प्रबल बवण्डर,

और चुकाने को रवि से निर्दय प्रहार का व्याज
वे उठते हैं शून्य गगन पर सज कर भीषण साज।

[७]

अवसाद प्रसाद भरा प्रतिपल
हलचल वन जाता है अथाह ,
नाचती निरन्तर जहाँ क्रान्ति
है और और का ही प्रवाह ,
अनियंत्रित रव से युक्त नगर
भर रहे यहाँ विष-मयी आह ,

नभ पर उठते हैं हँस हँस कर
प्रासाद—सम्पदा के प्रमाद ,
झोंपड़े धरातल चूम रहे ,
रोते निर्धनता के विषाद ,
हैं यहाँ खेलते साथ साथ
वैभव उत्पीड़न के प्रसाद ।

है कहीं चूमता अधर हास
झूमता नयन में हैं उछाह ,

आँसू बनता है कहीं रुधिर
है कहीं सिसकती दबी आह,
है कहीं तृप्ति, है कहीं प्यास
है यहाँ आदि से अन्त चाह!

चीत्कार—व्यथा की कहीं मार,
है कहीं उठ रहा रङ्ग राग,
सुख का वहता है कहीं मलय,
दुख की जलती है कहीं आग,
ये भग्न-हृदय युत नग्न नगर
दुर्दैन्य खेलता यहाँ फाग!

[८]

यहीं मृत्यु का भार लिए निज वक्षस्थल पर
और अंत के व्याप्त पूर्ण प्रतिबिम्ब भयङ्कर,
जहाँ कर रहा है विनाश संहार निरन्तर,
नष्ट भ्रष्ट अवशिष्ट खड़े हैं निर्जन खँडहर!

किये हुए निस्तब्ध, घोर मौन-व्रत धारण,
गत वैभव की निष्ठुर स्मृति के ये अनन्त क्षण !
मिटी ठसक की कसक जहाँ लेती संघर्षण,
यहाँ धूल में मिल जाता है जग का प्रति कण !

यहाँ निशा के अंधकार में ही उलूकदल
भरता है चीत्कारयुक्त जीवन की हलचल,
यहाँ काल विकराल गरल के स्रोत अनर्गल
जीवन ही में मृत्यु प्रदर्शित करते प्रतिपल ।

[६]

ऊँचे नभ से टक्कर लेती
हैं जल की लहरें उद्दण्ड,
जहाँ खेलता ही रहता है
निशि दिन झंझावात प्रचण्ड,
अपनी आहों के धुँधलेपन
से ढक देता है मार्तण्ड,

लिए हुए गिरि खण्ड अङ्क में
लिए हुए उर पर हिम खण्ड !

कभी घोर निस्तब्ध मौनव्रत
है विप्लव का कभी उठान !
उस अथाह के ही प्रवाह में
परिवर्तन का पूर्ण विधान !
जहाँ एक में मिल जाते हैं
सरिताओं के शत शत गान,
जहाँ अन्त—निःसीम अन्त का
मिलता है प्रतिबिम्ब महान !

जहाँ क्षितिज से मिल जाता है
संघर्षण का वेग अशान्त ;
जहाँ नाचता है निराश सा
काल रूप कर्कश एकान्त ;
पूर्ण चन्द्र के आलिङ्गन को
उठता है बन कर उद्भ्रान्त

पागल सा लहराया करता
अरे यहीं पर उदधि अशान्त !

[१०]

युगों का यह अस्तित्व—
और सदियों का विभव महान !

सामने हुआ खुले लोचन ,
दृष्टि-भ्रम का है विषम विधान ,
कल्पना के मण्डल में व्याप्त
हमारा यह सँकरा सा ज्ञान !
अरे दो ही हिचकी की बात—
और फिर अन्धकार अनजान !

कल्प का कल्प अपार
अरे जीवन के दिन दो चार !

उदधि के वक्षस्थल में व्याप्त
बुलबुले का यह क्षणिक उभार ,

निरन्तर उत्पीड़न उल्लास
जिसे कहते वैभव का भार,
एक अभिनय सा छाया चित्र
इसी को कहते हैं संसार!

[११]

जीवन और मरण का अभिनय होता है प्रतिकाल,
और यहाँ के प्रति कण में है परिवर्तन की चाल!
फिर भी वही शून्य है, उसमें वह अस्तित्व विशाल,
इन्द्रजाल सा बिछा हुआ है किस माया का जाल!

किस प्रकाश का दिन बनता किस अंधकार की रात?
किसको कहते सृजन और किसको कहते हैं घात?
हमने पूछी जब अथाह नभ से इतनी सी बात,
"इस सब में मेरी छाया है" बोल उठा अज्ञात!

बादल

[१]

किस उमङ्ग से प्रेरित होकर शून्य अधर पर
घिर आयी हो सघन घटा तुम गरज घुमड़ कर ?
भीम तुम्हारा नाद धीर, गम्भीर, भयङ्कर—
हिल उठते हैं मेरु, काँप उठते हैं अम्बर !
ऐ झंझा के प्रबल झकोरे ऐ झंझा के नाद ,
प्रकृति के व्यङ्ग-युक्त अवसाद !

रुको, बरसो बरसो दिन रात !
लोप कर दो निर्दय आकाश !
रुको बन जाओ अंधाकार !
मिटा दो पल में सकल प्रकाश !
रुको, हो आज भैरवी नृत्य ,
इधर हो नाश, उधर हो नाश !

इस विनाश के महागर्त में डूब जाय संसार !
और लोप हो जावे उसमें कलुषित हाहाकार !
जल ही जल हो, उथल पुथल हो, बनो काल साकार ,
बरसो ! बरसो ! अरे सघन घन, महाप्रलय की धार !

[२]

ऐ अशान्ति के वेग ! उदधि के उर से उठकर
कहाँ चले तुम आज प्रकृति के प्रबल बवण्डर ?
उठते हैं नद-ताल और गिरते हैं तरुवर ,
हो जाता निस्तब्ध विश्व भावी-भय से भर ।

ऐ उद्भ्रान्त-प्रवाह ! प्रकृति के उच्छृङ्खल उद्गार ,
कालिमा के काले अभिसार !

रुको पल भर, सुनलो तुम आज
धधकती हुई धरा की बात ।
यहाँ है सदा भ्रान्ति का राज्य
यहाँ है अपने ही का घात !
यहाँ नीचे नीचे प्रतिकाल
रुदन ही रुदन यहाँ दिन रात !

भरे हुए हो अरे स्वयम् ही तुम विप्लव साकार ;
पर असह्य है कायर जग को अपने दुख का भार ।
तुम विरोध की मूर्ति और हम करुणा के आगार—
रो सकना यदि तो रो लेना तुम आँसू दो चार !

[२]

किस विरोध की आग लिए पानी के उर में
चले जा रहे हो पागल से तुम सुरपुर में ?

रुको, बरसो बरसो दिन रात !
लोप कर दो निर्दय आकाश !
रुको बन जाओ अंधाकार !
मिटा दो पल में सकल प्रकाश !
रुको, हो आज भैरवी नृत्य ,
इधर हो नाश, उधर हो नाश !

इस विनाश के महागर्त में डूब जाय संसार !
और लोप हो जावे उसमें कलुषित हाहाकार !
जल ही जल हो, उथल पुथल हो, बनो काल साकार ,
बरसो ! बरसो ! अरे सघन घन, महाप्रलय की धार !

[२]

ऐ अशान्ति के वेग ! उदधि के उर से उठकर
कहाँ चले तुम आज प्रकृति के प्रबल बवण्डर ?
उठते हैं नद-ताल और गिरते हैं तरुवर ,
हो जाता निस्तब्ध विश्व भावी-भय से भर ।

रुको ! अरे ओ रुको ! पवन के झोंके चञ्चल !
झुको, झूम कर झुको भूमि पर काले बादल !
उमड़ पड़ो तुम उत्पीड़न पर बन कर उल्कापात
बनो प्रतिहिंसा के प्रतिघात !

गगन पर घिरो मण्डलाकार !
अवनि पर गिरो वज्र सम आज !
गरज कर भरो रुद्र हुङ्कार !
यहाँ पर करो नाश का साज !
मचे ताण्डव नर्तन फिर आज
चुका ले महाकाल निज व्याज !

नष्ट भ्रष्ट प्रासाद पड़े हों जल-प्लावित संसार,
शून्य कर रहा हो पागल सी लहरों का अभिसार।
नीचे जल हो, ऊपर जल हो, ऐ जल के उद्गार !
बरसो बरसो अरे सघन घन महा-प्रलय की धार !

जरा ठहर कर, उतर पड़ो तुम विश्व-विधुर में !
भर दो अपना वेग हमारे हृदय निठुर में।
अरे क्रान्ति की मूर्ति, कान्ति की, दीप्तशिखा की ज्वाल ?
धर्म के तेज, कर्म की चाल !

हमारा सूखा सा संसार—
एक तन्द्रा का कल्प अपार,
मोह की परिधि, स्वप्न का जाल
शून्य सा शून्य, पतन का सार ;
जलधि के वक्षस्थल में व्याप्त
बुलबुले का यह क्षणिक उभार !
इसमें मिलकर तड़प उठो तुम विप्लव के भूचाल,
हिलजावे आकाश पलक में पलट पड़े पाताल।
उठो गगन पर, अरे सघन घन वन विभ्राट विशाल !
फैल फैल कर अखिल शून्य में बनो विजय की माल !

[४]

"और ! और !" प्यासा चातक रटता है अविकल,
तड़प रहा है यहाँ तृपित उत्तप्त मरुस्थल,

नूरजहाँ की क़ब्र पर

नूरजहाँ की क़ब्र पर

नूरजहाँ की क़ब्र पर

[१]

तुम रजकण के ढेर, उलूकों के तुम भग्न विहार !
किस आशा से देख रहे हो उस नभ पर प्रतिवार
कि जिससे टकराता था कभी
तुम्हारा उन्नत भाल ?
सुनते हैं, तुमने भी देखा था वैभव का काल
धूल में मिले हुए कंकाल !

तुम्हारे सङ्केतों के साथ
नाचता था साम्राज्य विशाल ;
तुम्हारा क्रोध और उल्लास
बिगड़ते बनते थे भूपाल ,
किन्तु है आज कहानी शेष
प्रबल है प्रबल काल की चाल !

लाड़ प्यार में तुम बढ़ती थीं—कहाँ? किधर? किस ओर?
अरे विश्व के उस वैभव का मिलता ओर न छोर
कि जिसके एक अंश तक की
न ले पायीं तुम थाह!
बहता है संसार, वासना का है तीव्र प्रवाह,
देवि यह जीवन ही है चाह!

तुम्हारे आशा के सुख-स्वप्न,
तुम्हारे वे उमङ्ग उत्साह,
तुम्हारी मधुर मन्द मुसकान,
तुम्हारे भोले भाव अथाह,
हो गये क्षण भर में ही लोप,
हँसी बन गयी पलक में आह!

[५]

उस दिन पीले हुए तुम्हारे जब हलदी से हाथ,
बँधी प्रणय के उस बंधन में जब तुम पति के साथ
कि जिसमें बँधता है संसार
किस प्रतीक्षा के साथ!
भय, सङ्कोच, प्रेम, लज्जा थे, हँसते थे रतिनाथ,
दृष्टि नीची थी, ऊँचा माथ!

प्रेम का प्रथम प्रणय-चुम्बन
पाश डाले थे कोमल हाथ,
और वह आलिङ्गन, कम्पन,
कोकिला थी ऋतुपति के साथ!
मन्द्र स्वर में सगर्व सोल्लास
कहा था तुमने जीवन-नाथ!

[६]

प्रेम किया था उस चातक सा, बुझी न जिसकी प्यास,
अरे सुधा के उन प्यालों का है विचित्र इतिहास
कि जो होठों से लगते ही
छलक जाते हैं हाय!
इच्छाएँ हैं प्रबल, किन्तु हैं असफल सकल उपाय,
भटकते हैं हम सब असहाय!

परिस्थितियों की विस्तृत परिधि,
प्रेरणाओं का है समुदाय,
गिरें नीचे नीचे दिन-रात,
क्षणिक हैं सारे क्षीण उपाय,
सुधा के हैं थोड़े से बूँद,
हाय हैं अस्थिर चञ्चल हाय!

[७]

अरुण कपोलों में रस था, अधरों में अमृत-घोल !
तुम्हें ज्ञात भी था उन आँखों की मदिरा का मोल ?
कि जिनकी कुछ रेखाएँ लाल
हृदय उठता है काँप !
बना भृकुटियों का बाँकापन यौवन का अभिशाप
शेष है अब तक वही प्रलाप !

किन्तु वह सौरभ और पराग—
प्रेम का गर्व, प्रेम का ताप
और निश्छल निर्मल अनुराग !
किया था तुमने कैसा पाप ?
कि वह सारा पावन वैभव
उड़ गया नभ पर बन कर भाप !

[८]

आह ! भाग्य से हुईं तुम्हारी उस दिन आँखें चार ,
जिस दिन देखा था सलीम ने वह अपना संसार
कि जिस अज्ञात खण्ड में उसे
शान्ति थी अथवा भ्रान्ति ?
अनायास तुम काँप उठी थीं, थी वह प्रथम अशान्ति
देवि यह जीवन ही है क्रान्ति !

दास हो अथवा हो सम्राट
विश्व भर की स्वामिनि है भ्रान्ति ,
परिस्थितियों का है यह चक्र
जिसे हम सब कहते हैं क्रान्ति ,
भाग्य की देवि ! भाग्य की भेंट
सदा से है जीवन की शान्ति !

तृष्णा ! तृष्णा ! आह रक्त से रंजित तेरे हाथ !
विश्व खेलता है पागल सा उन पापों के साथ
कि जिनके पीछे ही है लगा
विषम रौरव का जाल ।
मिटा भाग्य-सिंदूर तुम्हारा, रिक्त हो गया भाल ,
प्रेम ही बना प्रेम का काल !

आह अनजान शेर अफ़ग़न !
तुम्हारा सुख-साम्राज्य विशाल—
कौन सा था वह गुरु-अपराध ?
—नष्ट हो समा गया पाताल !
प्रेम का था कैसा उपहार ?
मृत्यु बन गयी गले की माल !

तुम रोईं थीं, भाग्य हँसा था, था अद्भुत व्यवहार !
आह शेर अफ़ग़न ! गूँजी थी वह सकरुण चीत्कार
कि जिससे हृदय-रक्त मिलकर
बना नयनों का नीर ।
तुम समझी थीं रुक न सकेगी यह सरिता गम्भीर
किन्तु है निर्बल हृदय अधीर !

आह वह पतिघातक का प्यार !
वासना का उन्माद गँभीर !
कसक का भी होता है अन्त ,
क्षणिक है सदा वेदना पीर ,
कठिन है कठिन आत्म-बलिदान ,
कठिन हैं ये मनसिज के तीर !

[११]

एक परिधि है उद्‌गारों की, परिमित है परिताप !
मिट जाती है हृदय-पटल से वह स्मृति-छाया आप
कि जिसका पाँच वर्ष तक देवि
किया तुमने सन्मान !
उस अशान्ति की हलचल को करने को अन्तर्ध्यान
किया आकांक्षा का आह्वान !

बनीं उस दिन साम्राज्ञी और
हुआ तुमको तृष्णा का ज्ञान ;
आह ! वह आत्म-समर्पण, हार !
उसी दिन लोप हो गया मान !
उसी दिन तुमने पल में किया
पतन-रूपी मदिरा का पान !

[१२]

"और! और!" की ध्वनि प्रतिध्वनि है, "और! और! कुछ और!"
तृप्ति असम्भव है, चलने दो उन प्यालों के दौर
कि जिनके पीने ही के साथ
धधक उठती है प्यास !
झुक झुक पड़ते हैं पागल से, आह क्षणिक उल्लास—
आत्म-विस्मृति का यह उपहास !

महत्त्वाकांक्षा ! उफ उन्माद !
हुआ जिसको तेरा आभास,
उठा ऊँचे बन कर उत्साह,
गिरा नीचे बन कर निःश्वास !
पराजय की सीढ़ी है विजय
और भ्रम है भ्रम है विश्वास !

[१२]

धरा धसकती थी, असह्य था देवि तुम्हारा भार ;
उन कोमल चरणों के नीचे था समस्त संसार
कि जिनमें चुभते थे तत्काल
फूल भी बन कर शूल !
साम्राज्ञी थीं, किन्तु दैव था क्या तुम पर अनुकूल ?
यहीं तो थी जीवन की भूल !

शक्ति की स्वामिनि ! भोग विलास
सदा है सुख वैभव का मूल ,
किन्तु खुल गयी अचानक आँख
प्रकृति ही है इसके प्रतिकूल ;
आज कल ! आह क्षणिक ऐश्वर्य !
हुए सुख-स्वप्न सभी निर्मूल ।

उच्च शिखर था आकांक्षा का, नीचे था अज्ञात !
खेल रहा था वहाँ परिस्थिति का वह झंझावात
कि जिसके चक्कर में पड़कर
विजय बन जाती व्यङ्ग ।
तुम्हें गर्व था उस यौवन पर, था अनुकूल अनङ्ग ;
आह दीपक पर मुग्ध पतङ्ग !

अचानक पल भर में ही देवि
लोप हो गया सकल रस-रङ्ग ;
झुक गया माथ, गिर पड़ा मुकुट
व्यर्थ हो गया भृकुटि सारङ्ग ;
गिराया जहांगीर को किन्तु
गिरीं तुम भी तो उसके सङ्ग !

"गिर सकती हो!" क्या इसका भी था तुमको अनुमान !
एक कल्पना की छाया है यह सारा अभिमान
कि जिससे प्रेरित हो कर देवि
बनीं तुम निपट निशङ्क ।
उठते गिरते ही रहते हैं राजा हों या रङ्क !
अमिट हैं ये विधिना के अङ्क !

अरे दो ही हिचकी की बात—
हृदय में समा गया आतङ्क ;
रुक गयी जहाँगीर की श्वास ,
झुक गयी मद की चितवन बङ्क ;
बना जीवन जीवन का भार ,
और जीवन ही बना कलङ्क !

[१६]

जो कि सिहर उठते थे भय से देख चढ़ भ्रूचाप,
उनकी ही आँखों में देखा तुमने वह अभिशाप
कि जिसके व्यङ्ग हृदय में हाय
चुभ गये बन कर तीर !
बदला ही तो था, बदला है देवि सदा बेपीर !
आग में कब होता है नीर ?

अरी साम्राज्ञी ! वह साम्राज्य
मिट गया बन कर उष्ण समीर,
और उच्छृङ्खल ऊँचा भाल
झुका नीचे बन कर गम्भीर;
नाश की स्वामिनि ! तुम बन गयीं
नाश के लिए नितान्त अधीर !

* * * *

ऐ रजकण के ढेर तुम्हारा है विचित्र इतिहास !
तुम मनुष्य की उन अभिलाषाओं के हो उपहास
कि जिनका असफलता है अन्त
और आशा जीवन !
बना अजान खण्ड ही यह लो आज तुम्हारा सदन
कभी उत्थान, कभी है पतन ।

वासनाओं का यह संसार
भयानक भ्रम का है बंधन ;
और इच्छाओं का मण्डल
आदि से अन्त रुदन है रुदन ,
एक अनियंत्रित हाहाकार
इसी को कहते हैं जीवन ।

हिन्दू

[१]

तुम विनाश के लक्ष्य, पतन के कलुषित जीवन ;
तुम कलङ्क के अङ्क, अवनि के पाप पुरातन !
तुम जड़ता के दास, रुदन है सारा साहस !
अरे भूमि पर पड़े हुए हो कायर परवस ।
ऐ जीवन के व्यङ्ग कहाँ है वह गौरव, वह मान ?
मिटने वाले मिटना ही है क्या दर्शन का ज्ञान ?

तुम्हारी सहन-शीलता और
तुम्हारा महत आत्म बलिदान,
तुम्हारा धर्म, कर्म, आचार,
तुम्हारी कला, तुम्हारा ज्ञान—
अरे कायर ! मिथ्या आलाप—
स्वयम् करते अपना अपमान !

अपने ही को धोखा देना, यही असम्भव बात,
अपने ही हाथों से अपना तुम करते हो घात ।

[२]

तुम ममत्व की मूर्ति, ब्रह्म के सदा उपासक ;
निज इच्छा की पूर्ति, वासना के तुम पातक ; ध्या।
भेद-भाव के दास, धर्म के अविकल साधक ;
विधवाओं के काल और गायों के पालक—
पशुओं पर है दया, मनुष्यों पर है अत्याचार !
व्यङ्ग-मात्र है अरे पतित यह सब तेरा आचार !

अरे ये इतने कोटि अछूत ,
तुम्हारे बे-कौड़ी के दास !
दूर है छूने की ही बात ,
पाप है आना इनका पास ।
किन्तु फिर भी हो सज्जन श्रेष्ठ ,
अरे पापी कैसा विश्वास ?

"दूषिताङ्ग को काट फेंकना" मत करना उपचार—
मिटने वाले मिटने का है बस इतना ही सार ।

अरे तपस्वी ! आज कलेवर है आडम्बर ;
अरे मनस्वी ! आज बना मन तृष्णा का घर ;
अरे यशस्वी ! आज हुआ यश घोर निरादर ;
मिटने वाले ! काल-चक्र का कैसा चक्कर ?
फिर भी तुम जीवित हो अब तक यही अनोखी बात ?
पुण्य पूर्वजों का है, पर तुम गिरते हो दिन रात !

पाप के प्याले में दो बूँद
अभी कम हैं, तुम सम्हलो आज ,
प्रकृति का परिवर्तन है सार ,
बिगड़ते बनते हैं सब साज ;
परिस्थितियों के है प्रतिकूल
समय से पीछे हीन समाज !

कल समाज के नियम श्रेष्ठ थे किन्तु आज निस्सार ;
सदा परिस्थिति के चक्कर का परिवर्तन है आधार !

रोने वाले ! व्यङ्ग-मात्र है सारा रोदन ;
सोने वाले ! यहाँ क्षणिक है छोटा जीवन ;
खोने वाले ! शेष रहा केवल अपनापन ;
"अपनापन !" क्या कहा ? नहीं इस जग का बन्धन ।
अपनापन ! अपनापन किसका ? सोचो ज़रा ग़ुलाम !
अपनेपन पर दावा करना है मनुष्य का काम ।

किन्तु तुम हो पशुओं से हीन,
तुम्हारा नित होता है ह्रास ;
सदा अविकल हिंसा के लक्ष्य,
अहिंसा पर कैसा विश्वास !
पाप है रक्त-पात का नाम
अरे तुम कायरता के दास ।

बर्बरता है घृणित, सदा तुम रोते रहे निराश ;
अरे कला के दास कला ही कर देती है नाश !

जीवित है संसार आत्म-बल से भुजबल से,
लड़ना ही है इष्ट परिस्थिति चक्र प्रबल से,
सकल विश्व है युक्त नीति से बल से छल से,
साहस ही बस पार पा सकेगा रिपु दल से !
अरे भिखारी सबल लुटेरों से भिक्षा की चाह ?
ऐ गीता के रचनेवाले यही तुम्हारी थाह !

मूर्ख, हत-बुद्धि निपट अनजान
भ्रान्ति का यह कैसा बन्धन ?
मिटा देगा सारा अस्तित्व
तुम्हारा घोर भयानक पतन !
उठो, सम्हलो, तुम बनो मनुष्य
व्यर्थ है व्यर्थ तुम्हारा रुदन !

इतना रखना याद तुम्हारा जीवन ही है भार—
अरे हिन्दुओ आँखें खोलो बदता है संसार !

अतीत स्मृति

[१]

विदलित भावों के उत्पीड़न
स्मृति के करुण विलाप-रुदन !
बुझते दीपक की अन्तिम लौ ,
गिरते तरुवर के कम्पन !
ऐ अस्ताचल पर के दिनकर ,
अरे पतन के निर्दय क्षण !
मृत्यु-धूम्र से घिरी अरुणिमा ,
अरे अन्त की रक्त किरण !

जीवन की अन्तिम मरीचिका ,
ओ ख़ुमार के शून्य प्रहर !
अरे नाश के ताण्डव नर्तन ,
बहते आँसू के निर्भर !
कहाँ और किस ओर ? ठहर कर
अन्तर तर से तुम उठ कर ,
एक बार फिर मस्त बना दो
ओ अतीत के कम्पित स्वर !

प्रतिध्वनित हृदय की करुण कथा
मद पूर्ण उपेक्षा-अङ्क भूल
उठती है नभ पर लक्ष्यहीन
वह जीवन की प्रज्वलित भूल !
ओ विश्व, कल्पना के प्रसाद !
देखे थे कुछ रस-युक्त फूल ;
पर कैसे झोंके—अमित ताप
गिर गये फूल, रह गये शूल !

रत्नाकर का भीषण प्रलाप—
वड़वानल का उत्ताप ताप !
जलते हैं आँसू—वे शोले
उद्भ्रान्त नाश की नष्ट छाप !
ऐ पतन, निशा के अंधकार
हत यौवन के विक्षिप्त शाप !
रुक कर ! सुनने दो व्यथा-पूर्ण
सङ्गीत युक्त दारुण प्रलाप ।

[३]

तृषित हृदय की ऐ रक्ताञ्जलि,
विषम वेदना के अञ्चल।
कहाँ गया वह मतवालापन ?
वह यौवन का उथल पुथल ?
कहाँ गयीं उन्मत्त उमङ्गे,
स्वप्न-युक्त छोटे से पल ?
आशा का सुख-स्वप्न, व्यथा की
उच्छृङ्खल सुख-मय हल चल।
मरुस्थली के तप्त ववण्डर
अरे शीत के हिम-वर्षण !
कहाँ गया वह मधु का वैभव—
वह अतीत का आकर्षण ?
कहाँ गयी सुख की लहरों की
वह उठान—वह संघर्षण ?
लुप्त हो गये !—एक बार फिर
आजा उड़ने वाले क्षण।

प्रतिध्वनित हृदय की करुण कथा
मद पूर्ण उपेक्षा-अङ्क भूल
उठती है नभ पर लक्ष्यहीन
वह जीवन की प्रज्वलित भूल !
ओ विश्व, कल्पना के प्रसाद !
देखे थे कुछ रस-युक्त फूल ;
पर कैसे झोंके–अमित ताप
गिर गये फूल, रह गये शूल !

रत्नाकर का भीषण प्रलाप—
वड़वानल का उत्ताप ताप !
जलते हैं आँसू–वे शोले
उद्भ्रान्त नाश की नष्ट छाप !
ऐ पतन, निशा के अंधकार
हत यौवन के विक्षिप्त शाप !
रुक कर ! सुनने दो व्यथा-पूर्ण
सङ्गीत युक्त दारुण प्रलाप ।

तृषित हृदय की ऐ रक्ताञ्जलि,
विषम वेदना के अञ्चल।
कहाँ गया वह मतवालापन ?
वह यौवन का उथल पुथल ?
कहाँ गयीं उन्मत्त उमङ्गे,
स्वप्न-युक्त छोटे से पल ?
आशा का सुख-स्वप्न, व्यथा की
उच्छृङ्खल सुख-मय हल चल।

मरुस्थली के तप्त बवण्डर
अरे शीत के हिम-वर्षण !
कहाँ गया वह मधु का वैभव—
वह अतीत का आकर्षण ?
कहाँ गयी सुख की लहरों की
वह उठान—वह संघर्षण ?
लुप्त हो गये !—एक बार फिर
आजा उड़ने वाले क्षण।

आकांक्षाओं की नष्ट-प्राय
आशाओं के अविचलित रुदन।
ऐ शुष्क वास्तविकता-अनन्त!
अज्ञात लक्ष्य के ऐ बन्धन।
ऐ शान्ति! कसक से पूर्ण शान्ति!
ऐ उद्‌गारों के सिन्धु गहन।
ऐ परिधि-रहित परिताप!—मौन—
भाषा के मृत-प्राय जीवन

है कहाँ हास्य-ध्वनि की उठान
मानस-सर के सुन्दर मराल?
है कहाँ भ्रान्ति का अतुल राज्य
उन स्वप्नों का वैभव विशाल?
है कहाँ हृदय की वह उमङ्ग
दीवानों की मदपूर्ण ताल?
ऐ स्मृति वह कहाँ अतीत-काल?
उड़ गये विहग, रह गया जाल।

ऐ तृष्णा की शुष्क-साधना
अरे निराशा के मण्डल।
ऐ ममत्व ! अस्तित्व-भाव के
सूखे, मुर्झे हुए कमल।
ऐ उच्छ्वास-सुधा से मिश्रित
नाश-युक्त तुम मृदुल गरल।
ऐ वसुधा के खण्ड खण्ड तुम,
ऐ अखण्ड के व्यङ्ग अचल।

ऐ निःश्वास ! वहित सौरभ के
विकृत प्रवाह, तृषित अन्तर !
ऐ आशा के अन्त, निशा की
नीरवता के शून्य प्रहर !
कहाँ और किस ओर ? ठहर कर
अन्तर-तर से तुम उठ कर
एक बार फिर मस्त बना दो
ऐ अतीत के कम्पित स्वर।

घृणा

[१]

रुक कर, ठहरो हृदय ! क्रान्ति की यह उपासना
वर्जित है, है विश्व प्रेम का सदन निरन्तर ;
घृणा, क्या कहा घृणा ? नरक की विषम वासना ,
पतित हृदय की नीच वासना, पातक गुरुतर !

यह नीरस उद्‌गार, वास्तविकता का यह स्वर ,
और प्रकृति के अमिट नियम का रूप भयंकर !

आडम्बर से पूर्ण उपेक्षा से है निन्दित,
घृणा घृणित है, गूँज रहा है व्यङ्ग निरंतर।

[२]

दार्शनिक यह अप्राकृतिक भाव—
अचल विश्वास-स्वर्ण अक्षर,
विकृत आदर्शवाद युत भ्रान्ति,
रुदन के शुष्क हास्य का स्वर।
उच्च आकांक्षा का उच्छ्वास,
ढोंग है, है यह आडम्बर।

घृणा तुझको कहते हैं पाप!
विश्व तुझको देता है शाप!
पाप से प्रेम, पाप से घृणा,
एक है पुण्य, दूसरा पाप!
इसी को तो कहते हैं न्याय!
न्यायियों का है यही प्रलाप।

[३]

ऐ समाज की तीव्र गरल सी समालोचना !
अरे धर्म के असहनीय कटु ग्रंथित बन्धन !
अरे नियम के आलम्बन को तुम कठोरता !
ऐ अशान्ति से पूर्ण नरक-भय के दिग्दर्शन !

प्रेम-भाव से युक्त स्वर्ग के तुम गायन हो ,
हो निःसीम मुक्ति की गरिमा के मीठे फल ,
तुम अनन्त की व्यापकता की मृदु-प्रतिध्वनि हो ,
और घृणा है पाप न्याय यह कैसा सुन्दर ।

[४]

आह रे न्याय ! आह रे न्याय !
विश्व की निर्दयता के व्यंग !
पतित दूषित समाज की एक
ढोंग आडम्बर पूर्ण उमङ्ग !
लोक-प्रियता के क्षणिक उफान ,
और समता की विकृत तरंग !

दार्शनिक ये तेरे सिद्धान्त—
भ्रान्ति ही है इनका आधार !
धर्म भ्रम है, अप्राकृतिक भाव,
अंध-विश्वास-पूर्ण अविचार !
"क्या कहा नास्तिक !" कैसा प्रश्न ?
उठो अन्धे, देखो संसार !

[५]

बिना शोक के हर्ष सदा है निपट निरर्थक,
नीरवता यदि न हो कौन समझेगा फिर रव ?
है विषाद जब तभी हुआ उल्लास सार्थक,
यदि न घृणा हो, प्रेम-भाव तो हुआ असम्भव।

कायरता से वीर, न्याय से अत्याचारी,
सब करते हैं घृणा, पाप से पावन ऋषिवर;
फिर भी ठहरो हृदय, सुनो इन उद्गारों को
घृणा घृणित है, गूँज रहा है व्यङ्ग निरंतर !

तारा

(एकाङ्की नाटक)
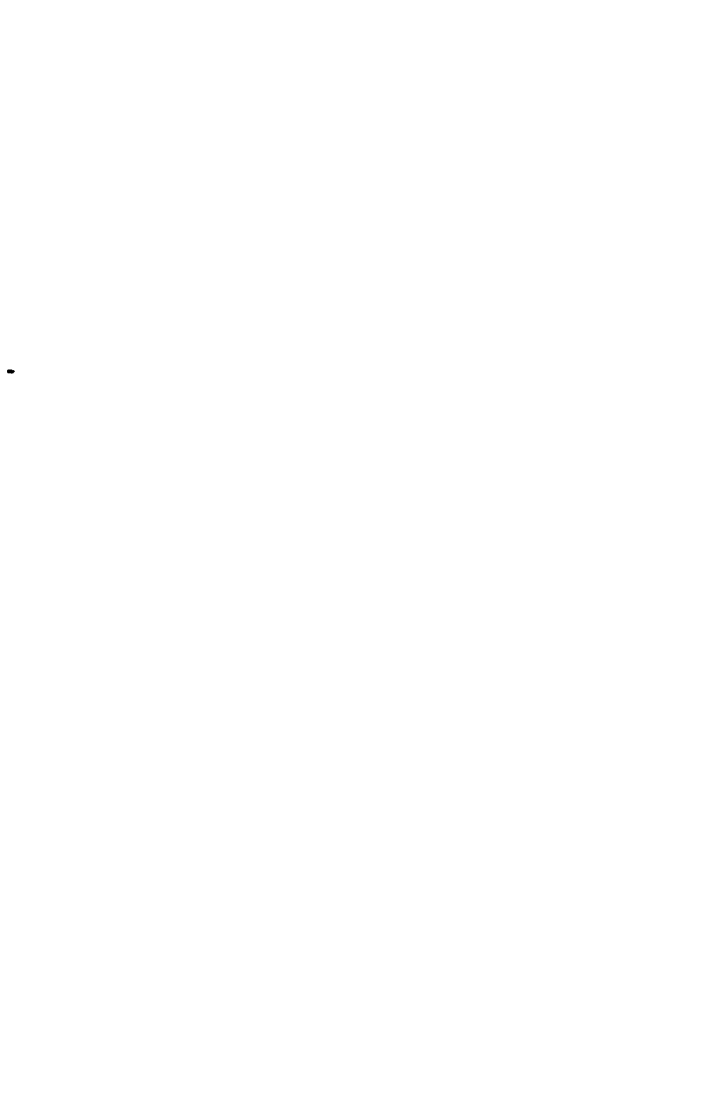
प्रथम दृश्य

तारा का प्रवेश]

तारा—यह तप, यह जीवन की अविकल साधना !

किन्तु शान्ति अस्तित्व तुम्हारा है कहाँ ?

किस अनन्त अज्ञात लक्ष्य की ओर तुम

प्रेरित करते रहते हो विचलित हृदय ?

यह यौवन की मादकता तो क्षणिक है !

विकसित कुसुम पराग सदा रहता नहीं ,

वैभव का पल आया और चला गया ,

शेष रहा परिताप, मानसिक वेदना ।

फिर जीवन का कठिन व्यर्थ बलिदान यह

कहो किस लिए ? इस उमङ्ग के स्रोत की १०

किस सुख की आशा से गति अवरुद्ध है ?

यह क्या ? यह कैसी विरोध की भावना ?

अनुचित है, जीवन का कलुषित पृष्ठ है,
भ्रम है, भ्रम है, निपट पाप की प्रेरणा !
है कर्तव्य प्रधान और आराधना !

आराधना ! अरे किसकी आराधना ?

मनोभाव की और प्रकृति के नियम की ?
या स्वामी के पूज्य चरण रज की ? अरे
वे मेरे पति ? नहीं भूल है ! भूल है !
वे हैं गुरु, गुरुजन, पूजा के पात्र हैं २०
प्रेम ? नहीं उन पर तो मेरी भक्ति है ।

मुझे चाह है रस की, पावन प्रेम की,

उस विस्मृति की, उस अनन्त सङ्गीत की
जिसमें निज ममत्व को सहसा भूल कर
हो जाऊँ मैं मग्न, और कर दे मुझे
प्रबल प्रेरणा प्रथम प्रेम की प्रवाहित
मादकता के विस्तृत तीव्र प्रवाह में !

बृहस्पति का प्रवेश]

उफ़ असह्य है इस विरोध की भावना

बृहस्पति—तारा! तारा! किस विरोध की भावना?

यह मिथ्या कल्पना सदा निःसार है! ३०

जीवन का पथ बाधाओं का केन्द्र है,

तृष्णा का प्राबल्य, पाप की वासना

इनका दमन—हमारा यह कर्तव्य है

यह विरोध क्या है?

तारा— यौवन का भार है!

क्या बलिदान सदा जीवन का सार है?

बृहस्पति—"मृगतृष्णा सा यह संसार असार है!"

यही ज्ञान जीवन का केवल सार है!

वैभव, सुख, ऐश्वर्य, भोग के चार दिन

यह सब है कल्पना! भ्रान्ति के राज्य में

है प्राधान्य वासना का, यह वासना ४०

इस जीवन के अधःपतन की मूल है,

है कर्तव्य दमन इसका, यह विजय ही

है बलिदान, विजित होना ही भूल है।

तारा—नाथ शान्ति दो, यही विनय है शान्ति दो,

मनोवृत्ति की चञ्चल गति है क्या करूँ?

कर्मक्षेत्र है शुष्क, तर्क भ्रम जाल है

है केवल अवलम्ब आप के चरण में।

प्रभु हैं स्वामी, मैं हूँ प्रभु की सहचरी

यह भावों का वेग, भयानक भ्रान्ति है

मुझे ले चलो वहाँ जहाँ पर शान्ति है ५०

[प्रस्थान

बृहस्पति—यह क्या देखा? इस अनन्त संगीत में

यह विरोध की ताल! सुधा के स्रोत में

मादकता की धार! आह री वासना!

"कर्म क्षेत्र है शुष्क, तर्क भ्रम जाल है!"

व्यर्थ हुई फिर क्या यह अविकल साधना?

पुण्य शुष्क है, रसमय केवल पाप है

कर्म-मार्ग में ही विरोध का ताप है!

द्वितीय दृश्य

बृहस्पति चन्द्रमा को पढ़ा रहे हैं]

चन्द्रमा—गुरुवर क्या है पुण्य, और क्या पाप है?
असफलता क्या जीवन में अभिशाप है?

बृहस्पति—पाप? पाप क्या है? मनुष्य की भूल है,
है समाज के नियमों की अवहेलना,
एक परिधि है आकांक्षा की, चाह की,
उसके भीतर रह कर चलना पुण्य है,
उसके बाहर गये और बस पाप है।

चन्द्रमा—प्रभो उचित है यह! पर है क्या वासना?
क्या यह पाप-वृत्ति की सदा उपासना?

बृहस्पति—इच्छा और वासना! जीवन क्रान्ति है! १०

मनोवृत्ति को प्रेरित करती वासना,
मनोवृत्ति आकांक्षा की आधार है,
आकांक्षा ही परिवर्तन का मूल है,
परिवर्तन है अमिट नियम इस प्रकृति का,
इसी लिए वासना प्रकृति का अंश है,
प्रकृति स्वयम् है पाप पुण्य कुछ भी नहीं !

चन्द्रमा—देव वासना का विरोध फिर किस लिए ?

बृहस्पति—जहाँ वासना, शान्ति वहाँ पर भ्रान्ति है
और शान्ति ही इस अनन्त का अन्त है !
है समाज के इन नियमों का लक्ष्य क्या ? २०
सदा प्रकृति का दमन कभी सम्भव नहीं
और प्रकृति [illegible] [illegible]तन्त्रता ही क्रान्ति [illegible] ।
पर अभीष्ट [illegible]
है [illegible]

चन्द्रमा—है [illegible]
और उ[illegible]

फिर समाज के बन्धन का है मूल्य क्या ?
बृहस्पति—है ममत्व आधार हमारी प्रकृति का
अपने सुख की सब करते हैं कामना,
साधन ही है उचित और अनुचित सदा। ३०
किन्तु हमारा ध्येय "लक्ष्य", "साधन" नहीं
पर समाज का "साधन" ही आधार है,
और हमारे सुख दुख का संसार के
सुख दुख से दृढ़तर गहिरा सम्बन्ध है।
है समाज प्रतिजन की रक्षा के लिए
इसी लिए हम हैं प्रतिकूल समाज के।
चन्द्रमा—हाँ समझा !
बृहस्पति— पर इस समाज के सब नियम
निर्धारित करते हैं अनुचित उचित को।
जीवन में वासना सदैव प्रधान है,
उनकी तृप्ति हमारा पहिला काम है ४०
और तृप्ति का अनुचित साधन पाप है।

मनोवृत्ति को प्रेरित करती वासना,
मनोवृत्ति आकांक्षा की आधार है,
आकांक्षा ही परिवर्तन का मूल है,
परिवर्तन है अमिट नियम इस प्रकृति का,
इसी लिए वासना प्रकृति का अंश है,
प्रकृति स्वयम् है पाप पुण्य कुछ भी नहीं!

चन्द्रमा—देव वासना का विरोध फिर किस लिए?

बृहस्पति—जहाँ वासना, शान्ति वहाँ पर भ्रान्ति है
और शान्ति ही इस अनन्त का अन्त है!
है समाज के इन नियमों का लक्ष्य क्या? २०
सदा प्रकृति का दमन कभी सम्भव नहीं
और प्रकृति की स्वतन्त्रता ही क्रान्ति है।
पर अभीष्ट है शान्ति! इस लिए यह प्रकृति
है समाज के बन्धन से जकड़ी हुई!

चन्द्रमा—है प्रत्येक व्यक्ति प्रतिकूल समाज के
और उसी से निर्मित सकल समाज है

फिर समाज के बन्धन का है मूल्य क्या ?

वृहस्पति—है ममत्व आधार हमारी प्रकृति का

अपने सुख की सब करते हैं कामना,

साधन ही है उचित और अनुचित सदा। ३०

किन्तु हमारा ध्येय "लक्ष्य", "साधन" नहीं

पर समाज का "साधन" ही आधार है,

और हमारे सुख दुख का संसार के

सुख दुख से दृढ़तर गहिरा सम्बन्ध है।

है समाज प्रतिजन की रक्षा के लिए

इसी लिए हम हैं प्रतिकूल समाज के।

चन्द्रमा—हाँ समझा !

वृहस्पति— पर इस समाज के सब नियम

निर्धारित करते हैं अनुचित उचित को।

जीवन में वासना सदैव प्रधान है,

उनकी तृप्ति हमारा पहिला काम है

और तृप्ति का अनुचित साधन पाप है।

अहम भाव है मुख्य, ममत्व प्रधान है,
अनुचित उचित विचार सदा सम्भव नहीं
इसी लिए वासना वत्स! अभिशाप है!

[तारा का प्रवेश

तारा (स्वगत)—अर्ध-रात्रि के अंधकार के अंक में
जब निद्रा से वशीभूत संसार है,
प्रेमोन्मत्त प्रेमिका के पर्यङ्क में
प्राणनाथ के आलिङ्गन का पाश है,
उद्‌गारों के उच्छृङ्खल उच्छ्वास में
और उमङ्गों की उत्फुल्ल उठान में ५०
पड़ कर उस अज्ञात लक्ष्य की ओर को
जहाँ मधुर मतवालेपन का वास है,
बस धीरे धीरे मदमाती चाल से
हो अभिन्न, कर से कर, उर से उर मिला
एक प्राण हो, एक हृदय हो, मग्न हो
अविकल अथक निराले निर्मल प्रेम में

प्रेमी और प्रेमिका जब करते गमन
उफ़ असह्य सा इस यौवन का भार है !

(चन्द्रमा को देख कर)

कौन ? अरे उज्ज्वल प्रकाश के पुंज सा
दशो दिशा को आलोकित करता हुआ, ६०
कौन कालिमा के इस कलुषित कक्ष को
नष्ट भ्रष्ट करने में सफल समर्थ है ?
सुन्दरता की यह सजीव प्रतिमूर्ति सा !
नहीं अरे फिर वह विरोध की भावना ?
नहीं, कौन यह व्यक्ति ? नहीं, पर पुरुष है
पाप वृत्ति तुम विजय पा सकोगे नहीं ;
अरे व्यर्थ है व्यर्थ तुम्हारी प्रेरणा !

(बृहस्पति से) प्राण नाथ !

बृहस्पति— तारा ! बोलो क्या काम है ?

तारा—अभिलाषा थी स्वामी के सत्सङ्ग की !

चन्द्रमा—माता मेरा सादर तुम्हें प्रणाम है ! ७०

तारा (स्वगत)—माता! उफ़ कैसा अभिशापित व्यङ्ग यह ?
गुरुपत्नी ! गुरुपत्नी कैसे सुकृत थे
जिनके बल पर अनायास माता बनीं ;
माता ! माता ! यह भावना असह्य है
मैं माता हूँ और शिष्य तुम पुत्र हो !
(चन्द्रमा से) शिष्य तुम्हें गुरुपत्नी का आशीष है !
(बृहस्पति से) अर्धरात्रि है, नाथ शयन का समय है।
बृहस्पति—अर्धरात्रि है और शयन का समय है
चलता हूँ तारा ! तुम मेरे शिष्य द्विज
जाता हूँ कल देश पर्यटन के लिए, ८०
और वत्स तुम मेरे प्यारे शिष्य हो
आश्रम की सेवा का तुम पर भार है !
चन्द्रमा—यह आज्ञा प्रभु की मुझको स्वीकार है !
[तारा और बृहस्पति का प्रस्थान
चन्द्रमा—क्यों आँखें झप गयीं और कम्पन हुआ ?
हृदय धड़कने लगा वेग से किस लिए ?

ये अभिशापित अशुभ अपशकुन आहरे !
तारा गुरुपत्नी तारा तुम कौन हो ?
धूम रहित तुम अग्नि शिखा की ज्वाल हो ,
उथल पुथल हो, तुम भीषण भूचाल हो ,
अरे कौन हो सुन्दरता की जाल हो , ९०

कर्म-क्षेत्र के पथ पर कर्कश काल हो ,
गुरुपत्नी ! गुरुपत्नी हो मायाविनी !
अलसाई आँखें, मदमाती चाल हो !
तुम उमङ्ग की उल्लासित उच्छ्वास हो !
तुम अनङ्ग की अभिशापित आवास हो !
क्या निमग्न कर के ही छोड़ोगी मुझे
तुम अथाह तृष्णा की तीव्र तरङ्ग हो !
उफ़ विलासिता की तुम कैसी व्यङ्ग हो !
अरे कौन हो ? कठिन तुम्हारा पाश है
अधःपतन हो; असफलता हो; नाश हो ! १००

तृतीय दृश्य

तारा का प्रवेश]

तारा—तृष्णा ! तृष्णा ! कहाँ तुम्हारा लक्ष्य है ?
रूप-राशि की मादकता विकराल है ,
धीरे धीरे अरे परिस्थिति-चक्र तुम !
कहाँ किधर किस ओर लिए चल रहे हो ?
आह तुम्हारी प्रबल प्रेरणा कठिन है ,
इस अभागिनी का यह पथ अज्ञात है ,
पतन और उत्थान नहीं कुछ ज्ञात है ,
सोचूँ समझूँ ? नहीं, यही सम्भव नहीं !

असहनीय आघात तुम्हारा अति सबल
मुझे चलता ही रहता दिन रात है! १०

चन्द्रमा का प्रवेश]

चन्द्रमा—गुरु की आज्ञा है, सेवा का भार है,
कर्म-मार्ग सङ्कीर्ण कण्टकाकीर्ण है,
है सागर गम्भीर, निशा का काल है,
उच्छृङ्खल लहरें हैं, नौका जीर्ण है,
इधर प्रलय, मेघाच्छादित आकाश है,
और लक्ष्य अज्ञात, सामने नाश है!
यौवन मदिरा से नाविक उन्मत्त है,
नहीं दीख पड़ता अब उसे प्रकाश है।
पतन! प्रेम क्या तुम यथार्थ ही पतन हो?
नहीं, विश्व के निर्णय का आधार क्या? २०
अरी वासना क्या तुम निश्चय पाप हो?
नहीं कुछ नहीं, तुम तो केवल प्रकृति हो।
"प्रकृति स्वयम् है पाप पुण्य कुछ भी नहीं!"

तृतीय दृश्य

तारा का प्रवेश]

तारा—तृष्णा ! तृष्णा ! कहाँ तुम्हारा लक्ष्य है ?
रूप-राशि की मादकता विकराल है,
धीरे धीरे अरे परिस्थिति-चक्र तुम !
कहाँ किधर किस ओर लिए चल रहे हो ?
आह तुम्हारी प्रबल प्रेरणा कठिन है,
इस अभागिनी का यह पथ अज्ञात है,
पतन और उत्थान नहीं कुछ ज्ञात है,
सोचूँ समझूँ ? नहीं, यही सम्भव नहीं !

असहनीय आघात तुम्हारा अति सबल
मुझे चलता ही रहता दिन रात है!   १०

चन्द्रमा का प्रवेश]

चन्द्रमा—गुरु की आज्ञा है, सेवा का भार है,
कर्म-मार्ग सङ्कीर्ण कण्टकाकीर्ण है,
है सागर गम्भीर, निशा का काल है,
उच्छृङ्खल लहरें हैं, नौका जीर्ण है,
इधर प्रलय, मेघाच्छादित आकाश है,
और लक्ष्य अज्ञात, सामने नाश है!
यौवन मदिरा से नाविक उन्मत्त है,
नहीं दीख पड़ता अब उसे प्रकाश है।
पतन! प्रेम क्या तुम यथार्थ ही पतन हो?
नहीं, विश्व के निर्णय का आधार क्या?   २०
अरी वासना क्या तुम निश्चय पाप हो?
नहीं कुछ नहीं, तुम तो केवल प्रकृति हो।
"प्रकृति स्वयम् है पाप पुण्य कुछ भी नहीं!"

इच्छाएं हैं पूरी होने के लिए,
साधन ही में सदा पाप है पुण्य है,
पर क्या उनकी हत्या पाप नहीं हुआ?

(तारा को देखकर)

यह हलचल, यह क्रान्ति! अशुभ वह समय था
जब देखा था तुम्हें, कहाँ ले चलोगी?
अरे रक्त-रञ्जित मतवाले नेत्र ये!
और शिथिल यह देह रूप के भार से! ३

कहो क्या करोगी? बोलो क्यों मौन हो?
तारा—गुरुपत्नी तारा तुम कौन हो?

तारा—नहीं जानती हाय स्वयम् ही कौन हूँ;
मैं जग के विरोध की भाषा मौन हूँ!
मैं समाज-निर्मित समाज की दोष हूँ;
स्वयम् भुला देने वाली मैं रोष हूँ;
क्या हूँ? इस अनन्त में कण हूँ, कुछ नहीं
पर अनन्त उद्गारों की मैं कोष हूँ!

अलग रहो ! तुम जल जाओगे नवयुवक
दबी हुई तृष्णा की भीषण आग हूँ ! ४०
मैं व्यापक विरोध से विकृत विराग हूँ !
अरे कौन हूँ ? केवल भ्रम हूँ, भूल हूँ,
अपने ही को चुभने वाली शूल हूँ,
शून्य साधना से हो मैं वह त्याग हूँ,
भ्रमर नहीं हैं जहाँ उसी एकान्त में
खिले हुए कुसुमों का मधुर पराग हूँ,
विकसित यौवन की मैं दबी उमङ्ग हूँ
रूप-राशि हूँ, रूप-राशि की चाह है
उठे और मिट जाय वही रस रंग हूँ !
वह निराश हूँ आशा देखी ही नहीं, ५०
अभिलाषा हूँ, इच्छाओं की अंग हूँ ;
मैं क्या हूँ इस निखिल विश्व की व्यङ्ग हूँ !
चन्द्रमा—यह प्रलाप क्यों ? देवि शान्त हो शान्त हो !
देखो मेरी ओर न तुम उद्भ्रान्त हो !

तुम हो झंझावात भयानक क्रान्ति की,
मैं अशान्ति का उदधि गहन गम्भीर हूँ,
आओ मिल कर आज विश्व को उलट दें!
मैं शीतल हिम, तुम आभामय अग्नि हो,
अरे ग्रीष्म ऋतु की तुम तप्त बयार हो,
मैं हेमन्त के ओलों की बौछार हूँ, ६०
हम तुम आओ मिल कर सुखद वसन्त हों!
मधुर तुम्हारा गान कुहू की कूक हो,
मैं ऋतुराज सुनूं पुलकित हो, मूक हो,
तुम सुगन्ध हो, मैं समीर होकर वहूँ;
तुम हो कुसुम, भ्रमर मैं भ्रमता ही रहूँ;
उषा-रूप तुम, मैं सुन्दर कलरव उठूँ;
तुम हो लतिका, मैं तरुवर शाखा बनूँ;
पाप, पुण्य, वैराग्य, वासना, नाश हो!
हो विस्मृति का अङ्क, मग्न हो जायँ हम!
तारा—क्या यह भी सम्भव है? भ्रम है, भूल है! ७०

वत्स चन्द्र मैं गुरुपत्नी, तुम शिष्य हो।
नहीं जानते तुम क्या करने चले हो!
तुम हो उनके शिष्य, उन्हें विश्वास है
तुम पर और तुम्हारी श्रद्धा भक्ति पर!
तुम मेरे रक्षक हो, भक्षक मत बनो!
हाथ जोड़ती हूँ, इस निर्बल हृदय को
दिखलाओ सन्मार्ग, तुम्हारा धर्म है!
पाप-मार्ग की ओर न प्रेरित तुम करो!
चन्द्रमा—पाप! कौन कह सकता इसको पाप है? ८०
कहो पाप की परिभाषा क्या एक है?
और तर्क ही क्या सब का आधार है?
फिर इतने मत, इतने दर्शन—हैं जहाँ
उलटी सीधी चाल, विरोध प्रधान है;
कलह और विद्रोह जहाँ आधार है,
रक्तपात है जिनमें साधन मुक्ति का,
कहो किस लिए? धर्म-धर्म ही व्यङ्ग है!

गुरु से शिक्षा पायी दर्शन-शास्त्र की,
किन्तु शान्ति मिल सकी नहीं उसमें मुझे !
गुरुपत्नी हो देवि ! तुम्हारे चरण में
आया है यह दास भिखारी शान्ति का, ९०
उसे प्रेम की दीक्षा देकर शान्ति दो !

ारा—हृदय सम्हल कर ! सुख है, नहीं प्रलाप है !
क्षणिक क्षीण—आवेश और फिर कुछ नहीं !
पल भर ठहरो, सोच समझ कर ! क्या कहा ?
जहाँ प्रेम है वहीं हर्ष है शान्ति है !

द्रमा से) यदि है धर्म-मार्ग पर ही करुणा व्यथा,
तो फिर आओ चलें पतन को ही चलें ;
अगर पाप में ही सुख है, तो पाप ही
हम दोनों बन जायँ, एक होकर रहें
अलग न हों हम, और नरक भी स्वर्ग हो ! १००

चौथा दृश्य

[बृहस्पति का प्रवेश]

यह कुटीर की उदासीनता किस लिए ?
मधुवन भरता है सूना निःश्वास क्यों ?
पशु हैं क्यों उद्विग्न, मलिन शङ्कित यहाँ ?
पक्षी क्यों मौन-व्रत हैं धारण किये ?
यहाँ नहीं है शान्ति, यहाँ स्थिरता नहीं,

नीरवता में व्यथा सिसकती है यहाँ !
अरे मौन क्यों मेरा स्वागत कर रहा ?
तारा ! तारा ! प्राणेश्वरी कहाँ गयी ?
आओ ! आओ ! खड़े द्वार पर प्राणपति
उनका स्वागत करो; शिष्य द्विज तुम चलो ,
मस्तक पर गुरु की चरणों की धूल लो !

यह क्या ? फिर भी वही मौन निस्तब्धता !
पत्नी तारा और शिष्य द्विज हैं कहाँ ?
देखूँ तो ! (कुछ सोचना)

यह क्या ? यह क्या ? यह क्या अरे !
कैसा यह विश्वासघात—उफ़ वासना !
जीवन की वह कठिन तपस्या, साधना—
उसका यह परिणाम ? भयानक पतन यह !
तारा ! तारा ! कुलटा, पापिनि, राक्षसी !
और चन्द्र—गुरु द्रोही पापी चन्द्र तुम
बच न सकोगे कभी पाप-परिणाम से ! २०

तुमने तोड़ा है समाज के नियम को,
तो फिर आओ चलो दण्ड भी तुम सहो !

[चन्द्रमा और तारा का प्रवेश

मा से) ऐ कृतघ्न उद्भ्रान्त तुम्हारा नाश हो !
सुर हो तुमने किया सुधा का पान है,
मर सकते हो नहीं मुझे यह दुःख है।
देता हूँ मैं शाप नित्य घुल घुल मरो।
फिर जीवित हो शनैः शनैः—आकाश में
अंधकार के समय सदा विचरा करो
जिससे यह संसार सदा देखा करे
पापी को—प्रति बार पाप परिणाम को ! २०

ा से) पतिता दुराचारिणी तारा तुम चलो
चूर चूर होकर बिखरो आकाश में
निज प्रेमी के साथ सदा घूमा करो।
देखो उसका नाश और तुम विश्व से
निज पापों की कहो कहानी सर्वदा !

चौथा दृश्य

बृहस्पति का प्रवेश]

यह कुटीर की उदासीनता किस लिए ?
मधुवन भरता है सूना निःश्वास क्यों ?
पशु हैं क्यों उद्विग्न, मलिन शङ्कित यहाँ ?
पक्षी क्यों मौन-व्रत हैं धारण किये ?
यहाँ नहीं है शान्ति, यहाँ स्थिरता नहीं,